द्वैमासिक
जुलाई-अक्टूबर 2020
30 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

"हिन्दू राष्ट्र" में क्या होगा

ढहती अर्थव्यवस्था, बढ़ती बेरोज़गारी

नयी शिक्षा नीति : शिक्षा को आम जन से दूर करने की परियोजना

तीन कृषि विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया

स्त्री उत्पीड़न और भाजपा का रामराज्य

षड्यंत्र सिद्धान्त कहाँ से आते हैं

धरती पर जीवन कैसे विकसित हुआ

भगतसिंह के जन्मदिवस (28 सितम्बर) के अवसर पर

हमें तुम्हारा नाम लेना है
एक बार फिर
गुमनाम मंसूबों की शिनाख़्त करते हुए
कुछ गुमशुदा साहसिक योजनाओं के
पते ढूँढ़ते हुए
जहाँ रोटियों पर माँओं के दूध से
अदृश्य अक्षरों में लिखे
पत्र भेजे जाने वाले हैं, खेतों-कारख़ानों में
दिहाड़ी पर खटने वाले पच्चीस करोड़ मज़दूरों,
बीस करोड़ युवा बेकारों,
उजड़े बेघरों और गिरफ़्तार
आधे आसमान की ओर से।
उन्हें एक दर्पण, नीले पानी की एक स्वच्छ झील,
एक आग लगा जंगल और धरती के बेचैन गर्भ से
उफनने को आतुर लावे की पुकार चाहिए।
गन्तव्य तक पहुँचकर
अदृश्य अक्षर चमक उठेंगे लाल टहकदार
और तय है कि
लोग एक बार फिर इन्सानियत की रूह में
हरकत पैदा करने के बारे में सोचने लगेंगे।*
तुम्हारा नाम हमें लेना है
उस समय के विरुद्ध
जब सजीव चीज़ों में निष्प्राणता भरी जा रही है
एक उज्ज्वल सुनसान में
जहाँ रहते हैं शिल्पी और सर्जक बस्तियाँ बसाकर,
और कभी दिन थे, जब हालाँकि अँधेरा था,
पर अनगिन कारीगर हाथों ने
मिट्टी, राख, रक्त, पानी, धूप, और
कामनाओं-संकल्पों-स्मृतियों-सपनों को
गूँथकर गढ़े थे लोग
विचारों ने बनाया था जिन्हें सजीव-गतिमान।
तुम्हारा नाम हमें लेना है
कि अधबने रास्ते कभी खोते नहीं,
हरदम कचोटते रहते हैं वे दिलों में
जागते रहते हैं
और पीढ़ियों तक धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा के बाद
वे फिर आगे चल पड़ते हैं
और जब भी
पहुँचते हैं अपनी चिरवांछित मंज़िल तक,
तो वहाँ से
एक नयी राह आगे चलने लगती है।

– शशि प्रकाश

की कविता 'नयी सदी में भगतसिंह की स्मृति' के अंश

* भगतसिंह के उस प्रसिद्ध कथन का सन्दर्भ कि "जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है" तो इस परिस्थिति को बदलने के लिए ज़रूरी होता है कि "क्रान्ति की स्पिरिट ताज़ा की जाये, ताकि इन्सानियत की रूह में हरकत पैदा हो।"

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ क़ायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी क़ायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में क़ैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➢ 'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

पाठक मंच	2
अपनी ओर से	
हिन्दू राष्ट्र में क्या होगा?	3
अर्थ जगत	
ढहती अर्थव्यवस्था, बढ़ती बेरोज़गारी	6
शिक्षा जगत	
'नयी शिक्षा नीति 2020': लफ़्फ़ाज़ियों की आड़ में शिक्षा को आमजन से दूर करने की परियोजना	18
शिक्षा पर कॉरपोरेट पूँजी के शिकंजे को क़ानूनी जामा पहनाने की कवायद	20
हरियाणा में शिक्षा व्यवस्था पर सरकारी हमला	58
पीटीआई शिक्षक बर्ख़ास्तगी के विरुद्ध आन्दोलन की राह पर	59
सामयिकी	
कृषि-सम्बन्धी तीन विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया	10
फ़ासिस्टों ने किस तरह आपदा को अवसर में बदला!	23
भूख व बीमारी से मरते लोगों के बीच राम मन्दिर भूमि पूजन का प्रहसन	53
एनजीओ : जन-असन्तोष के दबाव को कम करने वाले सेफ़्टी वॉल्व	56
स्त्री उत्पीड़न और भाजपा का रामराज्य	60
लगातार बढ़ रही दलित उत्पीड़न की घटनाओं के ख़िलाफ़ एकजुट हो	61
राज्यसत्ता के निरंकुश होते जाने के साथ बढ़ती पुलिस बर्बरता	63
पंजाब में ज़हरीली शराब के कारण मौत का ताण्डव!	64
विमर्श	
षड्यंत्र सिद्धान्तों (कॉन्सपिरेसी थियरीज़) के पैदा होने और लोगों के बीच उनके फैलने का भौतिक आधार क्या है	27
विज्ञान	
धरती पर जीवन का उद्भव और उद्विकास (इवोल्यूशन)	49
विशेष सामग्री	
अक्तूबर क्रान्ति और रूसी साम्राज्य की दमित क़ौमों की मुक्ति के विषय में ट्रॉट-बुण्डवादियों के विचार: अपढ़पन का एक और नमूना	34
राष्ट्रीय प्रश्न पर 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर का लेख : बुण्डवादी राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और त्रॉत्स्कीपन्थ में पतन की त्रासद कहानी	41
गतिविधियाँ	65
कहानी / सुबह का रंग भूरा है – फ्रांक पावलोफ़	69
कविता / गाइड उवाच – विनोद पदरज	72

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

वर्ष: 13 अंक: 1-2

जुलाई-अक्टूबर, 2020 (संयुक्तांक)

सम्पादक
अभिनव
सह-सम्पादक
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य: **30 रुपये**

वार्षिक सदस्यता: **160 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **320 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **750 रुपये**
आजीवन सदस्यता: **2,000 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 09999750940

ईमेल: ahwan.editor@gmail.com वेबसाइट: ahwanmag.com फ़ेसबुक: facebook.com/muktikamiahwan

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

मैं कई वर्षों से 'आह्वान' का नियमित पाठक और सदस्य हूँ। मुझे लगता है कि आज के दौर में, जब छात्रों-युवाओं के एक बड़े हिस्से में व्यवस्था को लेकर गहरा असन्तोष और कुछ कर गुज़रने का जोश है, तब एक ऐसी पत्रिका की सख़्त ज़रूरत है जो उनके सामने घटनाओं का सही नज़रिये से विश्लेषण प्रस्तुत करे, ऊपरी सतह पर दिखने वाली बातों को भेदकर वैज्ञानिक दृष्टि से सच्चाइयों को समझने में मदद करे और साथ ही लड़ने के सही रास्तों के बारे में भी बताये। आह्वान के जितने भी अंक अब तक आये हैं, वे बेहद उपयोगी रहे हैं, लेकिन इसके अनियमित होने से से बहुत परेशानी होती है। आशा है कि आप इस ओर ध्यान देंगे।

– अंकित, इलाहाबाद

'आह्वान' जनता के बीच उन विचारों को लेकर जा रही है जिन्हें ले जाने की हिम्मत कॉरपोरेट मीडिया में नहीं है। यह पत्रिका वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक अहम कड़ी है। इसके लेखों से युवाओं को विभिन्न चीज़ों को देखने और समझने का नज़रिया मिलता है। इसके लेख भाजपा और संघ परिवार की पोल खोलकर रख देते हैं कि आर्थिक संकट के समय पूँजीवाद किस तरह से फ़ासीवादी ताक़तों का इस्तेमाल कर रहा है। छात्रों-युवाओं और व्यापक मेहनतकश जनता को मुक्तिकामी विचारों की बेहद ज़रूरत है। मैं अपने तौर पर आह्वान पत्रिका को और लोगों तक पहुँचाने का भरसक प्रयास करूँगा। साथ ही मुझे लगता है आह्वान पत्रिका की नियमितता बरकरार नहीं रह पा रही है। इस चीज़ पर भी ध्यान दिया जाये।

– प्रवीन, गाँव-चौशाला, कैथल (हरियाणा)

'आह्वान' मौजूदा दौर की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों के वास्तविक रूप को जानने में मदद करने वाली महत्वपूर्ण पत्रिका है। व्यावसायिक मीडिया में वही जानकारी दी जाती है जो पूँजीपतियों और उनकी पार्टियों के मुताबिक़ हमारी सोच को संचालित करने में मददगार हो। आज का मीडिया राजनेताओं और पूँजीपतियों के हाथों की कठपुतली बनकर रह गया है। जनता के दुःख-दर्द से उसे कोई सरोकार नहीं रह गया है।

– रिज़वान अख़्तर, नई दिल्ली

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू, वाराणसी • प्रसेन, इलाहाबाद, फ़ोन: 8115491369

दिल्ली : • योगेश, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी. एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस, लता, जू.एन.यू., फ़ोन: 8800105101

बिहार : • विक्रान्त कुमार, द्वारा, हीरालाल, कुट्टी मशीन गली, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, ज़िला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, ज़िला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग़, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, वाया इस्लामपुर, नालन्दा

राजस्थान : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर

हरियाणा : • शहीद-ए-आज़म लाईब्रेरी, गोल मार्केट, हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी रेलवे रोड़, नरवाना, ज़िला-जींद • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यायल, रोहतक • अजय, जींद, फ़ोन: 8685030984 • अरविन्द, रोहतक, फ़ोन: 8010156365

पंजाब : • अवतार सिंह, मकान नं. 19041, गली नं. 14, बीबी वाला रोड, बठिण्डा, 151001, फ़ोन: 9501070001 • इनजिन्दर सिंह, शिवम कालोनी, गली नं. 5, संगरूर, फ़ोन: 9888080820 • दीपक शर्मा, मकान नं. 30, गुरुद्वारा खुही-सर, गली नं. 3, सतजोत नगर, ढांढरा रोड, लुधियाना-141116 • बलतेज, पंजाब युनिवर्सिटी, चंडीगढ़, फ़ोन: 9855022508

हिमाचल प्रदेश : • वृषाली द्वारा चेतन गुप्ता, जनरल मर्चेंट एंड ट्रांसपोर्ट एजेंट, टुटू, शिमला-171011, फ़ोन: 9582712837

महाराष्ट्र : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, रूम नं.: 103, बिल्डिंग: 61-ए, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम) • गोपाल नायडू, कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्टी, अजनी रोड, नागपुर

मध्यप्रदेश : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर

हिमाचल प्रदेश : • वृषाली (शिमला), फ़ोन: 9582712837 • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, ज़िला-मण्डी

उत्तराखण्ड : • अपूर्व, (देहरादून), फ़ोन: 7042740669 • वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, ज़िला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल, द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • बुक वर्ल्ड, 10- ए, एस्ले हाल, देहरादून

जम्मू : • श्री पुरुषोत्तम, लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

छत्तीसगढ़ : • शेख अंसार, रायपुर व राजनांदगाँव, फ़ोन: 9993233537 • जैनेन्द्र ठाकुर, रायपुर, फ़ोन: 9009755117 • श्री देवांशु पाल, सं. 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, बिलासपुर

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' के नये-पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वेबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanmag.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सऐप पर भी पा सकते हैं। इसके लिए आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सऐप से इस पर मैसेज भेजना होगा। विभिन्न विषयों पर 'आह्वान' की ओर से प्रस्तुत सामग्री के लिए हमारा फ़ेसबुक पेज भी फ़ॉलो करें: @ muktikamiahwan

हिन्दू राष्ट्र में क्या होगा?

राम मन्दिर बनने की शुरुआत हो चुकी है। बहुत-से आम मेहनतकश हिन्दुओं को भी शायद यह लग रहा है कि हिन्दू-हृदय सम्राट नरेन्द्र मोदी ने अब हिन्दू राष्ट्र की नींव डाल दी है। अब रामराज्य आयेगा। अब सभी को रोटी, कपड़ा और मकान हासिल होगा। यवनों और अधर्मियों को दोयम दर्जे का नागरिक बना दिया जायेगा! चूँकि 'हिन्दू राष्ट्र' शब्द में 'हिन्दू' है इसलिए उन्हें यह लगता है कि हिन्दू राष्ट्र में वास्तव में उनका शासन होगा, उन्हें ख़ुशहाली हासिल होगी, इत्यादि। क्या यह सच है?

अगर ठोस तथ्यों की बात करें तो ऐसा कतई नहीं लगता है। उल्टे यह लगता है कि हिन्दू राष्ट्र के नाम पर मोदी-नीत भाजपा सरकार जो बना रही है, वह बड़े इज़ारेदार पूँजीपतियों का तानाशाहाना शासन होगा! यह एक ऐसा शासन होगा जिसमें देशी-विदेशी बड़ी पूँजी को भारत के आम ग़रीब मेहनतकशों को लूटने की पूरी छूट मिलेगी, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। ऐसा लगता है कि यह एक ऐसा निज़ाम होगा, जिसमें 80 फ़ीसदी मेहनतकश लोगों की किस्मत में कोल्हू के बैल के समान खटना होगा, वह भी चुपचाप, बिना कोई आवाज़ किये। अगर कोई आवाज़ उठाता है, तो वह अधर्म होगा, हिन्दू राष्ट्र के ख़िलाफ़ अपराध होगा। नतीजतन, इस हिन्दू राष्ट्र में आम मुसलमान आबादी ही बर्बर दमन और उत्पीड़न का सामना नहीं करेगी, बल्कि हिन्दू आबादी का भी 80 फ़ीसदी हिस्सा उतने ही भयंकर दमन और उत्पीड़न का सामना करेगा। इसके कुछ शुरुआती प्रमाण मिलने भी लगे हैं।

दुनिया भर में इज़ारेदार पूँजी का शासन और नियंत्रण तो कई दशकों पहले ही क़ायम हो चुका था। आज तमाम देशों में इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग को फ़िरकापरस्त सियासत की ज़रूरत क्यों पड़ी है? वह तो पहले ही अर्थव्यवस्था और समाज के शासक शिखरों पर अपना कब्ज़ा स्थापित कर चुका था, तो फिर दुनिया भर में उसे बोल्सोनारो, एर्दोआन, दुतेर्ते, मोदी आदि जैसे धुर दक्षिणपंथी और अक्सर फ़ासीवादी तानाशाहों की ज़रूरत क्यों पड़ी है? इसकी वजह यह है कि 2008 से ही जिस भयंकर संकट ने विश्व पूँजीवाद को जकड़ा हुआ है, वह उसे छोड़ने का नाम ही नहीं ले रहा है। यह लम्बी महामन्दी जोकि 1970 के दशक से ही जारी है, एक अन्तहीन मन्दी प्रतीत हो रही है।

यह संकट क्या है? यह वास्तव में मुनाफ़े की गिरती दर का संकट है। समूचे पूँजी निवेश में जब मशीनरी और स्वचालन की भूमिका बढ़ती जायेगी और जीवित श्रम की भूमिका घटती जायेगी, तो ज़ाहिरा तौर पर, कुल नया मूल्य सृजन नीचे गिरता जायेगा। नतीजतन, अन्ततः, पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की दर भी गिरती जायेगी। यही वह संकट है, तो चक्रीय क्रम में पूँजीवाद को उसके जन्म के बाद से ही घेरता रहा है, युद्धों और क्रान्तियों को जन्म देता रहा है। मौजूदा मन्दी पूँजीवादी व्यवस्था के लिए अभूतपूर्व ढाँचागत मन्दी साबित हो रही है, क्योंकि पिछले 40 वर्षों से भी ज़्यादा समय में मन्दी के बाद विश्व पूँजीवाद ने वास्तविक अर्थव्यवस्था में तेज़ी का कोई विचारणीय दौर नहीं देखा है। इसीलिए इसे 'लम्बी महामन्दी' का नाम भी दिया जा रहा है।

ऐसे में, मुनाफ़े की गिरती दर से पूँजीपति वर्ग बिलबिलाया हुआ है और इससे निजात पाने की ख़ातिर वह कई तरक़ीबें अपना रहा है। कभी वित्तीय बाज़ार में वह सट्टेबाज़ी के बुलबुले फुलाता है, तो तात्कालिक तौर पर मन्दी के दूर होने का दृष्टिभ्रम पैदा करते हैं और इन बुलबुलों के फूटते ही

संकट और भी भयंकर रूप में प्रकट होता है। इसके अलावा, पूँजीपति वर्ग जो प्रमुख रास्ता अपना रहा है वह है ऋण के ज़रिये उपभोग को बढ़ावा देकर मन्दी को दूर करना। लेकिन जब ऋण स्वयं एक माल बन जाये, तो इस नये माल का बाज़ार भी उन्हीं नियमों के अधीन हो जाता है, जिसके अधीन पूरा पूँजीवाद ही होता है। नतीजतन, यह बाज़ार भी लुढ़कता रहता है। 2008 में सबप्राइम मन्दी के साथ वैश्विक मन्दी के नये दौर शुरुआत वास्तव में ऋण बाज़ार के ढहने से ही हुई थी, हालाँकि उस संकट के मूल में मुनाफ़े की गिरती दर का संकट ही था।

लेकिन इन सब रास्तों का इस्तेमाल करने के बावजूद पूँजीपति वर्ग जानता है कि मुनाफ़े की गिरती दर के संकट से निजात पाने के लिए उसे मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी को और भी ज़्यादा निचोड़ना होगा, शोषण की दर को बढ़ाना होगा और उनकी औसत आय को कम करना होगा जिससे कि कुल पैदा होने वाले नये मूल्य में मुनाफ़े का हिस्सा बढ़े और मज़दूरी का हिस्सा घटे। लेकिन जब पूँजीपति वर्ग यह करेगा, तो ज़ाहिर सी बात है कि उसे प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा क्योंकि इन कदमों का नतीजा यह होगा कि बेरोज़गारी बढ़ेगी, मज़दूर वर्ग की औसत आय घटेगी, उनके काम के घण्टे बढ़ाए जायेंगे, उनके सभी श्रम अधिकारों को छीना जायेगा। ऐसे में, दुनिया भर में इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग को तानाशाह क़िस्म की धुर दक्षिणपंथी, फ़ासीवादी और दमनकारी सत्ताओं की ज़रूरत है।

भारत में भी इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग को हर प्रकार की बाधा या रोकटोक से छुटकारा चाहिए, चाहे वह श्रम कानूनों के रूप में मौजूद हो, पर्यावरणीय कानूनों के रूप में मौजूद हो, पब्लिक सेक्टर के रूप में मौजूद हो या फिर अन्य कल्याणकारी कानूनों के रूप में मौजूद हो। इस इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग ने नरेन्द्र मोदी को हज़ारों करोड़ रुपये बहाकर सत्ता में इसीलिए पहुँचाया है कि ये सारी बाधाएँ समाप्त की जायें, एक ऐसा निज़ाम क़ायम किया जाये, जिसमें प्रतिरोध के स्वरों के लिए कोई जगह नहीं हो। जहां हर प्रकार के विरोध को पुलिस व सेना के बूटों तले कुचला जाय और बड़ी पूँजी के सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से की नंगी तानाशाही क़ायम की जाय।

लेकिन ऐसी फ़ासीवादी सत्ता केवल तभी क़ायम की जा सकती है, जबकि बेरोज़गारी, महँगाई और ग़रीबी से पहले से तंग जनता के बहुसंख्यक हिस्से के सामने एक नकली शत्रु खड़ा किया जाय। हर जगह फ़ासीवादी सत्ताएँ यही करती हैं। कहीं पर यह नकली शत्रु यहूदी होता है, कहीं प्रवासी, कहीं दलित तो कहीं मुसलमान। यह हर देश की विशिष्ट स्थितियों और इतिहास पर निर्भर करता है कि फ़ासीवादी शक्तियाँ किसे दुश्मन के तौर पर पेश करेंगी। भारत में साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का स्वाभाविक निशाना मुसलमान बने, जिसके कारणों की व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे नकली शत्रु की छवि का संघ परिवार ने पिछले आठ से नौ दशकों में व्यवस्थित तरीके से निर्माण किया है, जिसके लिए इतिहास का विकृतिकरण करने, मिथकों को 'कॉमन सेंस' के रूप में स्थापित करने, अफ़वाहें फैलाने से लेकर अपने पूरावक्ती स्वयंसेवकों द्वारा टटपुँजिया हिन्दू आबादी के बीच सुधार कार्य करना और अपनी संस्थाओं का नेटवर्क खड़ा करने तक, हर तरकीब का संघ परिवार ने इस्तेमाल किया है। इसमें भारत के पूँजीपति वर्ग ने विशेष तौर पर 1980 के दशक से संघ परिवार का पूरा साथ दिया है। इन सारे कदमों के ज़रिये सामाजिक व आर्थिक असुरक्षा, बेरोज़गारी, महंगाई और ग़रीबी से परेशान हिन्दू जनता के टटपुँजिया हिस्सों के बीच मुसलमानों, दलितों, स्त्रियों, प्रवासियों आदि के रूप में नकली शत्रु की छवियों का निर्माण किया जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अपराध उनके सिर मढ़ दिये जाते हैं। और यह टटपुँजिया आबादी के जिसके पास राजनीतिक वर्ग चेतना का अभाव है क्योंकि उसके पास अपनी बदहाली के कारणों के सही विश्लेषण तक कोई पहुँच नहीं है, अपनी अन्धी प्रतिक्रिया का निशाना इन अरक्षित समुदायों को बनाती है, जोकि वास्तव में उनके ही वर्ग मित्र हैं। नतीजा होता है बहुसंख्यक समुदायों के इन टटपुँजिया वर्गों की प्रतिक्रिया की लहर पर सवार होकर फ़ासीवादी पार्टी सत्ता में आती है, जिस प्रकार भाजपा सत्ता में पहुँची। सत्ता में पहुँचने के बाद भाजपा की मोदी सरकार ने लगातार बड़े पूँजीपति वर्ग की नंगयी और बेशर्मी के साथ सेवा की है, झूठ बोला है, फ़रेब किया है। निजीकरण की आँधी चलाते हुए देश के पब्लिक सेक्टरों,

प्राकृतिक संसाधनों को अम्बानियों और अडानियों को बेचा गया है; मज़दूरों से एक-एक करके सारे श्रम अधिकार छीने गये हैं; बेरोज़गारी का ऐसा कहर देश के युवाओं पर टूटा है, जिसकी भारत के इतिहास में कोई मिसाल नहीं है; इन सबके ख़िलाफ़ यदि कोई आवाज़ उठाता है, तो उसे तुरन्त राष्ट्र का शत्रु बताकर सींखचों के भीतर धकेलने में भी हमारे 'हिन्दू राष्ट्र' की मोदी सरकार ने कोई कमी नहीं की है, चाहे ये लोग हिन्दू हों या मुसलमान। यानी अब राष्ट्र के शत्रु की परिभाषा को विस्तारित कर दिया गया है: हर वह व्यक्ति राष्ट्र का शत्रु है, जो मोदी का विरोधी है! यह भी फ़ासीवाद की कार्यप्रणाली का ही एक हिस्सा है।

2014 से इसी प्रक्रिया का एक नया शिखर हम देख रहे हैं। नरेन्द्र मोदी-अमित शाह की फ़ासीवादी सरकार के रूप में भारत में फ़ासीवादी उभार अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ है। यही रामराज्य है, या 'हिन्दू राष्ट्र' है। लेकिन इसमें हिन्दू जनता की स्थिति क्या हुई है?

देश में 2012 से लेकर 2018 के बीच आम जनता के बीच उपभोग के स्तर में 9 प्रतिशत की गिरावट आ गयी है। यानी लोग पहले से कम खा, पहन रहे हैं, कम उपभोग कर रहे हैं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार पिछले 45 वर्षों में बेरोज़गारी अपने चरम पर है, लेकिन वास्तव में ऐसी बेरोज़गारी भारत ने आज़ादी के बाद से देखी ही नहीं है। यदि हम लेबर चौक पर खड़ी होने वाली मज़दूर आबादी, बेलदारों, अकुशल निर्माण मज़दूरों, दिहाड़ी करने वालों, तथाकथित 'गिग इकॉनमी' में काम करने वाले युवाओं, ठेका मज़दूरों आदि को गिनें तो हम पाएंगे कि बेरोज़गारी का स्तर भारत के इतिहास में अभूतपूर्व है। क्या ये सारे मुसलमानहैं? नहीं! इसमें अच्छी-ख़ासी आबादी आम मेहनतकश हिन्दुओं की है। पिछले कुछ हफ्तों के ही दौरान भाजपा-शासित सभी प्रदेशों में मज़दूरों के काम के घण्टों को बढ़ाकर 12 घण्टे कर दिया गया है। क्या अब सिर्फ़ मुसलमान 12 घण्टे काम करेंगे? नहीं! 12 घण्टे हाड़तोड़ मेहनत करने वाले इन मज़दूरों की बहुसंख्या हिन्दू है! पर्यावरणीय इजाजत के नियम-कानूनों से पूँजीपतियों को छूट दे दी गयी है। इसके परिणामस्वरूप देश में पर्यावरण की जो अपूरणीय क्षति होगी, क्या उसका असर केवल मुसलमानों पर पड़ेगा? कोयला क्षेत्र, रेलवे और यहां तक कि रक्षा के क्षेत्र में भी निजीकरण और देशी-विदेशी पूँजी की लूट को खुली छूट देने का पूरा इन्तज़ाम कर दिया गया है। इसके नतीजे के रूप में जो छंटनी होगी और बेरोज़गारी बढ़ेगी और ठेकाकरण होगा, उसका निशाना क्या केवल मुसलमान बनेंगे? नहीं! हम अभी ही देख रहे हैं कि बड़े पैमाने पर मज़दूरों की छँटनी शुरू हो चुकी है, पक्के रोज़गार ख़त्म हो रहे हैं और ठेकाकरण बढ़ रहा है, जिसका शिकार हिन्दू व मुसलमान मज़दूर एक बराबर हो रहे हैं? निजीकरण के कारण जो सरकारी नौकरियां खत्म की जा रही हैं और बेरोज़गारी बढ़ रही है, तो उसका खामियाजा क्या केवल मुसलमान युवा भुगतेंगे? नहीं! हम अभी ही देख रहे हैं कि हिन्दू, मुसलमान सभी इसकी कीमत चुका रहे हैं। सरकार ने जनता के खजाने से 1.45 लाख करोड़ रुपये सौगात के रूप में अम्बानी, अडानी जैसे धनपशुओं को सौंप दिये। क्या यहां सिर्फ़ मुसलमान जनता को लूटा गया है? नहीं! देश की समूची मेहनतकश जनता को लूटा गया है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान हों।

जैसे-जैसे देश में असन्तोष और ग़ुस्सा बढ़ेगा, लोगों का ध्यान भटकाने के लिए और उनकों बाँटने के लिए हिन्दुत्व के जुमले को और भी ज़्यादा उछाला जायेगा, हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे के शत्रु के रूप में पेश किया जायेगा, ताकि इन भयंकर स्थितियों के लिए जिम्मेदार पूँजीवादी व्यवस्था, पूँजीपति वर्ग और उसके सबसे प्रतिक्रियावादी हिस्से की नुमाइन्दगी करने वाली मोदी-शाह सरकार को जनता कठघरे में न खड़े। और यदि कोई इस सच्चाई को समझता है और मोदी सरकार का विरोध करता है, तो उसे 'हिन्दू राष्ट्र' का शत्रु करार दिया जायेगा, जेलों में डाला जायेगा, प्रताड़ित किया जायेगा, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। क्या देश में ठीक यही नहीं हो रहा है? सोचिए।

स्पष्ट है कि 'हिन्दू राष्ट्र' का अर्थ है देश के आम मेहनतकश हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, दलित, स्त्री, आदिवासी आबादी व दमित राष्ट्रों पर देश के बड़े पूँजीपति वर्ग की नंगी, बर्बर, बेशर्म तानाशाही। इस बात को हम जितनी जल्दी समझ लें, उतना बेहतर है।

अर्थजगत

ढहती अर्थव्यवस्था, बढ़ती बेरोज़गारी

सत्यप्रकाश

बेतहाशा बढ़ रही बेरोज़गारी को लेकर देश की छात्र-युवा आबादी में सुलगता असन्तोष पिछली 5 सितम्बर और फिर 17 सितम्बर को देश के कई राज्यों में सड़कों पर प्रदर्शनों के रूप में रूप में फूट पड़ा। शहरों ही नहीं, गाँवों के इलाक़ों में भी जगह-जगह छात्रों-युवाओं ने थाली पीटकर अपना विरोध जताया और नरेन्द्र मोदी के कथित जन्मदिवस को 'बेरोज़गारी दिवस' के रूप में मनाया। यह सही है कि नौजवानों की एक भारी आबादी अब भी संघी प्रचार और गोदी मीडिया व भाजपा के आईटी सेल द्वारा उछाले जा रहे झूठे मुद्दों की गिरफ़्त में है, लेकिन आने वाले दिनों में बेरोज़गारी, महँगाई और सरकारी दमन की बिगड़ती स्थिति की मार उन पर भी पड़ने वाली है।

पिछले 6 साल से "हिन्दू हृदय सम्राट" मोदी की भाजपा सरकार द्वारा निर्माणाधीन "हिन्दू राष्ट्र" में करीब 12 करोड़ रोज़गार छिन चुके हैं। इसके साथ ही अर्थव्यवस्था जिस तरह ढहने के कगार पर है, उसे देखते हुए आने वाले दिनों में बेरोज़गारी के हालात और भयंकर होने वाले हैं। अर्थव्यवस्था का संकट 2011 से ही भारत को झकझोर रहा था। 2018 से अर्थव्यवस्था का सिकुड़ना लगातार जारी था। मोदी सरकार आज अपनी नाकामयाबी का ठीकरा कोरोना संकट पर फोड़ना चाहती है, लेकिन सच यह है कि कोरोना संकट शुरू होने से पहले से ही नोटबन्दी के कारण चार करोड़ नौकरियाँ जा चुकी थीं। कोरोना महामारी पर सही समय पर सही क़दम न उठा पाने के कारण मोदी सरकार ने आनन-फ़ानन में बिना किसी तैयारी या योजना के जो लॉकडाउन किया, उसने करोड़ों नौकरियाँ और छीन लीं। आज देश में बेरोज़गारों की आबादी 30 करोड़ से ऊपर जा चुकी है।

मोदी के शासनकाल में ही देश की जनता के औसत उपभोग ख़र्च में 27 प्रतिशत की कमी आयी है। याद रखें, इसमें पूँजीपति वर्ग का उपभोग भी शामिल है जो कि अश्लीलता, नंगयी और बेशर्मी के साथ इस दौर में भी बढ़ा है! यानी आम मेहनतकश जनता के उपभोग ख़र्च में 27 प्रतिशत से कहीं ज़्यादा कमी आयी है। कुछ आकलनों के अनुसार यह कमी 30 से 40 प्रतिशत के क़रीब हो सकती है। यानी आज से छह साल पहले देश का आम मेहनतकश जितना खा-पहन पा रहा था, अपने बच्चों को जैसा भोजन आदि मुहैया करा पा रहा था आज उसका दो-तिहाई ही दे पा रहा है। इतने से ही देश में आम मेहनतकश आबादी में बढ़ते कुपोषण, भुखमरी और आत्महत्या की हालत को भी समझा जा सकता है।

देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में 2020 के वित्तीय वर्ष की पहली तिमाही, यानी अप्रैल-जून में 23.9 फ़ीसदी की गिरावट आयी। यानी 2019 के वित्तीय वर्ष की पहली तिमाही के मुक़ाबले 2020 के वित्तीय वर्ष की पहली तिमाही में सकल घरेलू उत्पाद में 23.9 प्रतिशत की कमी आयी। लेकिन अगर इससे ठीक पहले की तिमाही से तुलना करें तो सकल घरेलू उत्पाद 29.5 प्रतिशत कम हो गया। सकल घरेलू उत्पाद का मतलब होता है, किसी निश्चित समय में किसी देश में सभी वस्तुओं और सेवाओं का कुल मूल्य जिसे कि मुद्रा में मापा जाता है, यानी हमारे यहाँ रुपये में। याद रहे, कुल सेवाओं में वित्तीय व बैंकिंग सेवाएँ भी शामिल हैं, जोकि इस पूरे संकट के दौरान बढ़ी हैं क्योंकि उत्पादन में लाभदायक निवेश न हो पाने पर पूँजीपति वर्ग अपनी पूँजी के बढ़े हुए हिस्से को सट्टेबाज़ी और वित्तीय हेरफेर में लगाता है। आम तौर पर, जब भी बैंकिंग, स्टॉक मार्केट में अधिक उछाल दिखता है, तो अक्सर इसका मतलब यह होता है कि वास्तविक उत्पादक अर्थव्यवस्था संकट में है। अगर हम बैंकिंग व वित्तीय क्षेत्र की सेवाओं को निकाल दें, तो मालूम होगा कि जीडीपी में कहीं ज़्यादा भयंकर गिरावट आयी है।

अर्थव्यवस्था के अलग-अलग सेक्टरों को देखें तो निर्माण उद्योग में 50 प्रतिशत की गिरावट आयी है। मैन्युफ़ैक्चरिंग यानी मोटे तौर पर औद्योगिक उत्पादन में 39 प्रतिशत की गिरावट आयी है। खनन उद्योग में 40 प्रतिशत, टेक्सटाइल में 30 प्रतिशत और ऑटोमोबाइल उद्योग में 19 प्रतिशत की गिरावट आयी है। नतीजतन, कुल निवेश में 47 प्रतिशत की कमी आयी है। इसी दौर में कपड़ा उद्योग में मज़दूरी पर होने वाला ख़र्च 29 प्रतिशत कम हो गया, चमड़ा उद्योग में 22 प्रतिशत, ऑटोमोबाइल उद्योग में 19 प्रतिशत, पर्यटन उद्योग में 30 प्रतिशत, होटल उद्योग में 21 प्रतिशत की कमी आयी है। यह भयंकर कमी है और इसका नतीजा हमें करोड़ों नौकरियों के जाने के रूप में देखने को मिला है। न केवल 12 करोड़ आम मेहनतकश लोग अपनी रोज़ी-रोटी से हाथ धो बैठे बल्कि जो आबादी नौकरी खोने की त्रासदी से बच गयी, उसे अब पहले से भी कम मज़दूरी पर 12-12 घण्टे काम करना पड़ रहा है। जब करोड़ों बेरोज़गार नौजवान सड़कों पर धूल फाँक रहे हैं तब बड़ी संख्या में नौजवान दफ़्तरों और सेवा

उद्योग के विभिन्न उपक्रमों में 12-12 घण्टे बेहद कम वेतन पर काम कर रहे हैं।

2019 में देश में जितने लोगों ने आत्महत्या की उसमें से बेरोज़गारों का हिस्सा 10.1 फ़ीसदी था। 25 सालों में यह पहली बार हुआ है जब बेरोज़गारों की आत्महत्या का हिस्सा दो अंकों में पहुँचा हो। 2019 में देश में 14,019 बेरोज़गारों ने आत्महत्या की। यह पिछले साल के मुक़ाबले 8.37 प्रतिशत अधिक है। 2018 में 12,936 बेरोज़गारों ने आत्महत्या की थी। हालाँकि ये आँकड़े वास्तविक स्थिति से कम ही रहते हैं फिर भी इनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि देश में बेरोज़गारी के हालात किस क़दर जानलेवा हो चुके हैं।

हर साल दो करोड़ रोज़गार देने का जुमला उछालकर सत्ता में आये मोदी ने आने के साथ ही वे सारे काम करने शुरू कर दिये थे जिनसे रोज़गार पैदा होने के बजाय और घटते ही। दरअसल पूरी दुनिया के पैमाने पर पूँजीवादी व्यवस्था भीषण संकट का शिकार है जिसका कोई स्थायी इलाज उसके पास नहीं है। मोदी के पास इस संकट को दूर करने का कोई उपाय तो था नहीं, उल्टे भाजपा सरकार ने देशी-विदेशी पूँजीपतियों को लूट की खुली छूट देने के लिए जो क़दम उठाये उनसे अर्थव्यवस्था की हालत और खस्ता होती गयी। रही-सही कसर नोटबन्दी और जीएसटी ने पूरी कर दी। 2019 के शुरू में जब यह बात सामने आयी कि पिछले 45 वर्ष में सबसे ज़्यादा बेरोज़गारी देश में हो चुकी है तो सरकार ने बेरोज़गारी के आँकड़े देना ही बन्द कर दिया। लेकिन सेंटर फ़ॉर मॉनीटरिंग इण्डियन इकॉनमी (सीएमआईई) ने पिछले वर्ष ही बताया था कि 2014 से 2019 के बीच क़रीब 5 करोड़ लोगों का रोज़गार छिन गया।

इस वर्ष मार्च में कोरोना को रोकने के नाम पर बिना किसी तैयारी के जिस तरह अचानक लॉकडाउन लगाया गया और और बिना किसी योजना के बढ़ाया गया, उसने हालात और भी ख़राब कर दिये। अब हालात इतने बिगड़ चुके हैं कि मामला इस सरकार के हाथों से निकल चुका है। इण्डियन एक्सप्रेस के अनुसार, केन्द्र सरकार के जॉब पोर्टल पर जुलाई-अगस्त के 40 दिनों में 69 लाख बेरोज़गारों ने रजिस्टर किया जिसमें काम मिला मात्र 7700 को यानी सिर्फ़ 0.1% लोगों को, यानी 1000 में सिर्फ़ 1 आदमी को। केवल 14 से 21 अगस्त के बीच 1 सप्ताह में 7 लाख लोगों ने रजिस्टर किया जिसमें मात्र 691 लोगों को काम मिला, जो 0.1% यानी 1000 में 1 से भी कम है।

सीएमआईई की ताज़ा रिपोर्ट में बताया गया है कि मार्च से जुलाई के बीच देश में 1.9 करोड़ वेतनभोगियों की नौकरी चली गयी। इस जुलाई 2020 में 50 लाख नौकरियाँ गयीं, यही अनुमान अगस्त के बारे में है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि हालात अभी और बुरे होंगे। बेरोज़गारी दर 9.1% पहुँच गयी है। यह अभूतपूर्व है।

सरकार की ओर से यह भ्रम फैलाने की कोशिश की जा रही है कि बेरोज़गारी का संकट महामारी की वजह से है और ऐसा पूरी दुनिया में हो रहा है। मगर सच यह है कि सीएमआईई के अनुसार वेतन वाली नौकरियाँ लम्बे समय से बढ़ ही नहीं रही हैं। 2019-20 में ऐसी नौकरियाँ 8.6 करोड़ थीं जो लॉकडाउन के बाद 21% कम होकर अप्रैल 2020 में 6.8 करोड़ रह गयीं और जुलाई के अन्त तक 6.72 करोड़ रह गयी हैं।

बहुत से लोगों को लगता था कि केवल मज़दूरों और छोटे कर्मचारियों के रोज़गार पर संकट है और सरकारी या बड़ी कम्पनियों के कर्मचारियों के लिए ज़्यादा चिन्ता की बात नहीं है। मगर असलियत यह नहीं है। न केवल ख़ाली पड़े पद भरे नहीं जा रहे हैं बल्कि पहले से मौजूद नौकरियों को भी ख़त्म किया जा रहा है।

देश में सबसे ज़्यादा रोज़गार देने वाले सरकारी उपक्रमों की हालत ख़राब है। भारतीय रेल के कर्मचारियों की संख्या 20 वर्ष में 18 लाख से घटकर क़रीब 9 लाख रह गयी है। रेलवे में क़रीब सवा दो लाख पद ख़ाली होने पर भी भरे नहीं जा रहे। अभी रेलवे ने 500 ट्रेनों को बन्द करने और 10,000 स्टेशनों को बन्द करने की घोषणा कर दी है। ट्रेनों और स्टेशनों का निजीकरण पहले ही शुरू हो चुका है। रेलवे और रोडवेज़ के वर्कशॉपों को भी प्राइवेट करने की तैयारी चल रही है। बैंकों की वैकेंसी पहले ही काफ़ी कम हो गयी थीं, अब कई बैंकों को आपस में मिला देने के बाद बैंकों की नौकरियों में और भी कमी आने वाली है। बचे हुए सरकारी स्कूल बन्द किये जा रहे हैं, सरकारी अस्पतालों की हालत ख़राब कर दी गयी है।

आज हालत यह है कि केन्द्र व राज्य सरकारों की मिलाकर 100 से अधिक परीक्षाएँ लटकी हुई हैं जिनसे 10 करोड़ से अधिक प्रतियोगी छात्र सीधे तौर पर प्रभावित हैं। इनमें कई परीक्षाएँ तो सात-सात साल से अधर में लटकी हैं। सरकार अपने सभी विभागों में नौकरियाँ ख़त्म कर रही है। आर्थिक संकट में फँसी सरकार कर्मचारियों पर ख़र्च हर हाल में कम करना चाहती है। यह मत सोचिए कि इनसे ख़ाली होने वाली जगह पर युवाओं को मौक़ा दिया जायेगा। दरअसल यह सरकारी नौकरियों को धीरे-धीरे करके कम करते जाने की एक और कोशिश है।

पिछले सितम्बर को वित्त मंत्रालय से विभिन्न मंत्रालयों व विभागों के लिए एक निर्देश जारी हुआ कि कोई नया पद सृजित न करें। हालाँकि अगले ही दिन देश के कई इलाक़ों में छात्रों-युवाओं के आन्दोलन के दबाव में वित्त मंत्रालय ने सफ़ाई दे दी कि फ़ण्ड की कमी के कारण सरकारी पदों की भर्ती पर कोई रोक या प्रतिबन्ध नहीं लगा है। सामान्य भर्तियाँ चलती रहेंगी। लेकिन यह आँख में धूल झोंकने की कोशिश है।

यह ख़बर भी आ चुकी है कि सरकार हर मंत्रालय तथा विभाग में 50 से 55 वर्ष उम्र के बीच के या 30 वर्ष नौकरी कर

चुके कर्मचारियों का एक रजिस्टर तैयार करवा रही है। इसके आधार पर हर तिमाही में उनके काम की समीक्षा की जायेगी और मानकों पर खरे न उतरने पर उनकी सेवा समाप्त कर दी जायेगी। देश का सबसे बड़ा बैंक एसबीआई अपने 30 हज़ार कर्मचारियों को स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति देने की घोषणा कर चुका है। पुलिस महकमे में भी छँटनी का प्रस्ताव आ चुका है। इसके साथ ही, सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को मोदी सरकार जिस तरह अन्धाधुन्ध अपने चहेते पूँजीपतियों को बेच डाल रही है, या ठेके पर दे रही है, उसका सीधा असर यह होगा कि नौकरियाँ बड़े पैमाने पर ख़त्म होंगी।

कोरोना महामारी के आने से पहले ही, 2019 में लगातार उत्पादन गतिविधियों में भारी गिरावट दिख रही थी। कारों और दो पहिया वाहनों के सैकड़ों शोरूम देशभर में बन्द हो गये थे। पहली बार बिजली के ख़र्च में कमी आयी थी क्योंकि कारख़ाने अपनी क्षमता से बहुत कम पर काम कर रहे थे। उद्योग, व्यापार, खेती सभी सुस्ती का शिकार थे। इसलिए वित्त मंत्री निर्मला सीतारमण का यह बयान मोदी सरकार को बचाने के लिए बोला गया एक बड़ा झूठ है कि अर्थव्यवस्था की मन्दी "दैवी आपदा" के कारण है।

इसके बाद लॉकडाउन के कारण हालत यह हो गयी है कि राजधानी से लगे नोएडा में 300 से ज़्यादा फ़ैक्ट्रियों पर ताले लग गये हैं और पाँच हज़ार से ज़्यादा फ़ैक्ट्रियाँ बन्द होने के कगार पर हैं। सबसे ज़्यादा असर गारमेंट, इलेक्ट्रॉनिक्स सामान बनाने वाली फ़ैक्ट्रियों पर पड़ा है। गारमेंट फ़ैक्ट्रियों में मशीनें धूल खा रही हैं और जहाँ सैकड़ों लोग काम करते थे उन जगहों पर सन्नाटा पसरा है। लघु और मध्यम उद्योगों की हालत भी अच्छी नहीं है। नोएडा के इण्डस्ट्रियल इलाक़े में सन्नाटा छाया है और हर दूसरी-तीसरी फ़ैक्ट्री में फ़ैक्ट्री किराये पर देने के बोर्ड टँग चुके हैं। कमोबेश यही हाल देश के दूसरे औद्योगिक क्षेत्रों का भी है।

भारी संख्या में रोज़गार देने वाले सेवा क्षेत्र (सर्विस सेक्टर) में लगातार छठे महीने गिरावट देखने को मिली है। समाचार एजेंसी रॉयटर्स ने उद्योगों के एक सर्वे के हवाले से रिपोर्ट दी कि कारोबारी गतिविधियाँ प्रभावित होने से अगस्त 2020 में भी नौकरियाँ जाने का सिलसिला जारी रहा। सर्वे कहता है कि अर्थव्यवस्था में भारी गिरावट के बाद सर्विस सेक्टर में सुधार में लम्बा समय लगेगा।

सेंटर फ़ॉर इण्डियन इकोनॉमी के मुताबिक़, लॉकडाउन लगने के एक महीने के बाद से क़रीब 12 करोड़ लोग अपने काम से हाथ गँवा चुके हैं। इनमें अधिकतर लोग असंगठित और ग्रामीण क्षेत्र से हैं। दोबारा आर्थिक गतिविधियाँ शुरू होने और फ़सल की अच्छी पैदावर की वजह से जुलाई-अगस्त में काफ़ी लोगों को काम मिला लेकिन स्थिति ज़्यादा समय तक रहने वाली नहीं है।

सीएमआईई के आकलन के मुताबिक़, वेतन पर काम करने वाले संगठित क्षेत्र में 1.9 करोड़ लोगों ने अपनी नौकरियाँ लॉकडाउन के दौरान खोयी हैं। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन और एशियन डेवलपमेण्ट बैंक की एक अन्य रिपोर्ट में यह अनुमान लगाया गया है कि 30 की उम्र के नीचे के क़रीब चालीस लाख से अधिक भारतीयों ने अपनी नौकरियाँ महामारी की वजह से गँवायी हैं। 15 से 24 साल के लोगों पर सबसे अधिक असर पड़ा है। सीएमआईई के मैनेजिंग डायरेक्टर महेश व्यास का कहना है कि 30 साल से कम उम्र वाले ज़्यादा प्रभावित हुए हैं। कम्पनियाँ अनुभवी लोगों को रख रही हैं और नौजवानों पर इसकी मार पड़ रही है।

महेश व्यास कहते हैं कि ट्रेनी और प्रोबेशन पर काम करने वाले अपनी नौकरियाँ गँवा चुके हैं। कम्पनियाँ अब कैंपस में जाकर नौकरी नहीं दे रही हैं। किसी भी तरह की कोई नियुक्ति नहीं हो रही है। जब 2021 में काम की तलाश करने वाले युवाओं का अगला बैच तैयार होगा तो वो बेरोज़गारों की फ़ौज में शामिल होंगे।

पिछले साल के सीएमआईई के सर्वे में पाया गया था कि क़रीब 35 प्रतिशत लोग मानते थे कि उनकी आय पिछले साल की तुलना में बेहतर हुई है जबकि इस साल सिर्फ़ दो फ़ीसद लोगों का ऐसा मानना है। मज़दूरों से लेकर उच्च मध्यम वर्ग तक के लोगों की आमदनी में कटौती हुई है। एक रिपोर्ट के मुताबिक़, नौकरी जाने और वेतन में कटौती की भरपाई करने के लिए वेतनभोगी लोगों ने लॉकडाउन के चार महीनों में क़रीब पौने तीन सौ करोड़ रुपये अपनी ज़रूरी बचत से निकाले। कई शहरों में मध्य वर्ग के लोग अपने गहने गिरवी रखकर क़र्ज़ ले रहे हैं। लेकिन जिस मेहनतकश आबादी के पास न तो पुरानी बचत है और न ही गिरवी रखने के लिए सोना-चाँदी, बेचने के लिए केवल अपना श्रम है, वे कैसे गुज़ारा कर रहे हैं, इसका सिर्फ़ अनुमान ही लगाया जा सकता है, या उनके घरों में जाकर देखा जा सकता है।

नौकरी नहीं रहने की वजह से ज़्यादा से ज़्यादा लोगों के हाथ से काम-धन्धा छिन रहा है। लेकिन यह कोई अचानक से आयी तब्दीली नहीं है। अर्थशास्त्री विनोज अब्राहम की ओर से 2017 में किये गये अध्ययन में यह बात साफ़ तौर पर सामने आयी थी कि 2013-14 और 2015-16 के बीच रोज़गार में आज़ादी के बाद संभवत: पहली बार इतनी भारी गिरावट आयी है। यह अध्ययन श्रम ब्यूरो से इकट्ठा किये गये डेटा को आधार बनाकर किया गया था।

पिछले कुछ सालों से स्किल इण्डिया, मेक इन इण्डिया, प्रधानमंत्री रोज़गार सृजन कार्यक्रम, प्रधानमंत्री रोज़गार प्रोत्साहन योजना, प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना जैसी तरह-तरह की योजनाएँ बनायी गयी हैं और इन योजनाओं के प्रचार पर अरबों रुपये फूँक दिये गये। लेकिन इन योजनाओं के दफ़्तर और प्रचार सँभालने वाले लोगों को रोज़गार देने के अलावा देश में बेरोज़गारी कम करने की दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई है। ज़्यादातर योजनाएँ

तो चुनावी घोषणाओं की तरह बिना किसी तैयारी के शुरू कर दी गयी हैं। उद्योगों की ज़रूरतों और युवाओं को सिखाये जा रहे कौशलों में कोई तालमेल ही नहीं है और अधिकांश मामलों में दी जा रही ट्रेनिंग इतनी घटिया है कि उससे कोई रोज़गार नहीं मिल सकता।

अक्सर कहा जाता है कि सभी को शिक्षा और रोज़गार दिया ही नहीं जा सकता। सरकार की यह ज़िम्मेदारी ही नहीं है। दरअसल हमारे दिमाग़ में इस तर्क को कूट-कूट कर बैठा दिया गया है ताकि हम इसे अपना अधिकार समझकर इसकी माँग ही न करें। आज भी अनेक भक्त यह तर्क देते मिल जायेंगे कि रोज़गार के लिए सरकार पर निर्भर क्यों रहते हो। मगर सच्चाई क्या है? किसी भी लोकतांत्रिक समाज में भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा पाना हर नागरिक का बुनियादी अधिकार होता है।

जो लोग विकास के लिए निजीकरण को ज़रूरी समझते हैं उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि दुनिया के विकसित पूँजीवादी देशों में भी भारत से कहीं ज़्यादा सरकारी कर्मचारी हैं। भारत में आबादी के अनुसार सरकारी कर्मचारियों का सबसे कम अनुपात है। कुछ साल पहले वर्ल्ड बैंक के एक अध्ययन में पाया गया कि भारत की 2.5 प्रतिशत से भी कम आबादी सरकारी नौकरी में कार्यरत थी, जो मलेशिया और श्रीलंका जैसे देशों से भी कम था। अमेरिका और यूरोपीय देशों में सरकारी रोज़गार का अनुपात बहुत अधिक है। स्कैंडिनेवियाई देशों में लगभग 15 प्रतिशत और अमेरिका और पश्चिमी यूरोप में 6-8 प्रतिशत आबादी सरकारी नौकरी में है। अमेरिका में कुल रोज़गार का लगभग 17 प्रतिशत सरकारी है। कुछ राज्यों में यह 25 प्रतिशत तक है। यूरोपीय यूनियन के देशों में कुल रोज़गार का लगभग 16 प्रतिशत सरकारी है।

दरअसल सभी को रोज़गार देने के लिए तीन चीज़ें होनी चाहिए – काम करने योग्य लोग, विकास की सम्भावनाएँ और प्राकृतिक संसाधन। हमारे यहाँ ये तीनों चीज़ें प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं। फिर भी अगर लोगों को रोज़गार नहीं मिल रहा है तो यह सरकार की मंशा और देश में अपनाये गये विकास के रास्ते का सवाल है। करोड़ों मज़दूर और पढ़े-लिखे नौजवान, जो शरीर और मन से तन्दुरुस्त हैं और काम करने के लिए तैयार हैं, उन्हें काम के अवसर से वंचित कर दिया गया है और मरने, भीख माँगने या अपराधी बन जाने के लिए सड़कों पर धकेल दिया गया है। आर्थिक संकट के गहराने के साथ हर दिन बेरोज़गारों की तादाद में बढ़ोत्तरी होती रही है। बहुत बड़ी आबादी ऐसे लोगों की है जिन्हें बेरोज़गारी के आँकड़ों में पहले भी नहीं गिना जाता था, लेकिन वास्तव में उनके पास साल में कुछ दिन ही रोज़गार रहता है या फिर कई तरह के छोटे-मोटे काम करके भी वे मुश्किल से जीने लायक कमा पाते हैं। हमारे देश में काम करने वालों की कमी नहीं है, प्राकृतिक संसाधनों की कोई कमी नहीं है, जीवन के हर क्षेत्र में बुनियादी सुविधाओं के विकास और रोज़गार के अवसर पैदा करने की अनन्त सम्भावनाएँ मौजूद हैं, फिर भी इस क़दर बेरोज़गारी क्यों मौजूद है? ये वे सवाल हैं जिन पर नौजवानों को सोचना चाहिए और सरकार के सामने सवाल खड़े करने चाहिए। बेवजह के मुद्दों में उलझाकर रोज़गार के मूल सवाल से ध्यान भटकाने की कोशिशों में उन्हें नहीं फँसना चाहिए।

'आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये 'आह्वान' सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। हम आपको बताना चाहते हैं कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में 'आह्वान' अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर के सहयोग करें। 2. अपने मित्रों को 'आह्वान' की सदस्यता दिलवाएँ। 3. 'आह्वान' के लिए आर्थिक सहयोग भेजें। साथ ही, 'आह्वान' के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र भेजने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि नीचे दिये गये बैंक खाते में भेज सकते हैं या आह्वान के पते पर चेक/ड्राफ़्ट/मनीऑर्डर भेज सकते हैं। आर्थिक सहयोग या सदस्यता राशि भेजते समय हमें सूचित अवश्य करें और अपना पूरा पता और फ़ोन नम्बर ज़रूर दें।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, बादली शाखा, खाता नं. 21360100010629,

IFSC: BARB0TRDBAD (BARB के बाद 0 (शून्य) है)

साभिवादन,

सम्पादक

सामयिकी

कृषि-सम्बन्धी तीन विधेयक : मेहनतकशों का नज़रिया

अभिनव

कोरोना महामारी के बीच मोदी सरकार ने बड़ी पूँजी के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दिखाते हुए आनन-फ़ानन में कृषि सुधारों के नाम पर जून में ही तीन अध्यादेश पास कर दिए। यही नहीं, सितम्बर के महीने में संसद के सत्र में इन अध्यादेशों को दोनों सदनों का अनुमोदन भी मिल गया। **इन तीनों विधेयकों के प्रावधानों में सबसे प्रमुख यह है कि सरकार ने खेती के उत्पाद की ख़रीद के क्षेत्र में, यानी खेती के उत्पाद के व्यापार के क्षेत्र में उदारीकरण का रास्ता साफ़ कर दिया है।** पहले विधेयक यानी 'फार्म प्रोड्यूस ट्रेड एण्ड कॉमर्स (प्रमोशन एण्ड फैसिलिटेशन) विधेयक' का मूल बिन्दु यही है। अब कोई भी निजी ख़रीदार किसानों से सीधे खेती के उत्पाद ख़रीद सकेगा, जो कि पहले ए.पी.एम.सी. (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केटिंग कमिटी) की मण्डियों में सरकारी तौर पर निर्धारित लाभकारी मूल्य पर ही कर सकता था। यानी, खेती के उत्पादों की क़ीमत पर सरकारी नियंत्रण और विनियमन को ढीला कर दिया गया है और उसे खुले बाज़ार की गति पर छोड़ने का इन्तज़ाम कर दिया गया है।

धनी किसानों व कुलकों को डर है कि इसकी वजह से उन्हें सरकार द्वारा तय मूल्य सुनिश्चित नहीं हो पायेगा और कारपोरेट ख़रीदार कम क़ीमतों पर सीधे खेती के उत्पाद की ख़रीद करेंगे। हो सकता है कि ये शुरू में अधिक क़ीमतें दें, लेकिन बाद में, अपनी इजारेदारी क़ायम होने के बाद, ये किसानों को कम क़ीमतें देंगे। सरकार ने इन सरकारी मण्डियों और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को औपचारिक तौर पर ख़त्म नहीं किया है, लेकिन इसका नतीजा यही होगा कि ये मण्डियाँ कालान्तर में समाप्त हो जायेंगी या वे बचेंगी भी तो उनका कोई ज़्यादा मतलब नहीं रह जायेगा। वजह यह है कि इन मण्डियों के बाहर व्यापार क्षेत्रों में होने वाले विपणन में किसानों व व्यापारियों पर कोई शुल्क या कर नहीं लगाया जायेगा। नतीजा यह होगा कि लाभकारी मूल्य की व्यवस्था भी प्रभावत: समाप्त हो जायेगी, भले ही उसे औपचारिक तौर पर समाप्त न किया जाये।

इसलिए मौजूदा किसान आन्दोलन के केन्द्र में लाभकारी मूल्य का सवाल है और यही उसके लिए सबसे अहम मुद्दा है या कह सकते हैं कि उसके लिए यही एकमात्र मुद्दा है। इस पहले ही विधेयक में सरकारी मण्डी के बाहर होने वाली ख़रीद को तमाम करों व शुल्कों से मुक्त करने और विवाद के निपटारे की व्यवस्था के प्रावधान भी हैं, जिनका किसान संगठन विरोध कर रहे हैं। **लेकिन इनका भी रिश्ता मूलत: यह सुनिश्चित करने से ही है कि लाभकारी मूल्य मिले।**

दूसरी चिन्ता जो कि इस पहले विधेयक से पैदा हुई है वह आढ़तियों की है। पंजाब में ही 28,000 से ज़्यादा आढ़ती हैं। इन्हें लाभकारी मूल्य के ऊपर 2.5 प्रतिशत का कमीशन मिलता है। पंजाब और हरियाणा में इस कमीशन से इन आढ़तियों ने पिछले वर्ष 2000 करोड़ रुपये कमाये हैं। अक्सर धनी किसान व कुलक ही आढ़ती व मध्यस्थ व्यापारी की भूमिका में भी होते हैं, सूदखोर की भूमिका में भी होते हैं, और निम्न मँझोले और ग़रीब किसानों से लाभकारी मूल्य से काफ़ी कम दाम पर उत्पाद ख़रीदते हैं और उसे लाभकारी मूल्य पर बेचकर और साथ ही कमीशन के ज़रिये मुनाफ़ा कमाते हैं।

इसके अलावा, राज्य सरकारों को भी ए.पी.एम.सी. मण्डी में होने वाली बिकवाली पर कर प्राप्त होता है, जैसे कि पंजाब में धान और गेहूँ पर 6 प्रतिशत, बासमती चावल पर 4 प्रतिशत और कपास और मक्का पर 2 प्रतिशत शुल्क लिया जाता है। पिछले वर्ष पंजाब सरकार को इससे 3500 से 3600 करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त हुआ था। पंजाब और हरियाणा के किसान संगठनों का कहना है कि यदि यह राजस्व प्राप्त नहीं होगा तो राज्य सरकार गाँव के अवसंरचनागत ढाँचे को बेहतर नहीं बना पायेगी और किसानों के लिए अपने उत्पाद की बिकवाली और परिवहन और भी मुश्किल हो जायेगा। लेकिन महाराष्ट्र के किसान संगठनों के नेताओं जैसे कि शेट्टी और घनवत का कहना है कि इस राजस्व से वैसे भी ग्रामीण अवसंरचनागत ढाँचे में कोई ख़ास निवेश नहीं होता था और इसके हट जाने पर भी निजी निवेशक कृषि उत्पाद के विपणन के तंत्र को चुस्त-दुरुस्त करने के लिए आवश्यक अवसंरचना में निवेश करेंगे क्योंकि यह उनके लिए भी ज़रूरी होगा।

दूसरी बात यह है कि सभी किसान संगठन ए.पी.एम.सी. मण्डियों के एकाधिकार ख़त्म होने पर अलग से आपत्ति नहीं कर रहे हैं बल्कि सिर्फ़ इसलिए आपत्ति कर रहे हैं क्योंकि यह लाभकारी मूल्य को सुनिश्चित करती थी। इसीलिए अखिल भारतीय किसान सभा के विजू कृष्णन ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि *सरकार यदि लाभकारी मूल्य को किसानों का क़ानूनी अधिकार बना दे ताकि कोई निजी ख़रीदार भी लाभकारी मूल्य देने के लिए बाध्य हो, तो उन्हें ए.पी.एम.सी. मण्डी के एकाधिकार के समाप्त होने से कोई दिक़्क़त नहीं है।*

दूसरे विधेयक का नाम है 'दि फार्मर्स (एम्पावरमेण्ट एण्ड प्रोटेक्शन) एग्रीमेण्ट ऑन प्राइस अश्योरेंस एण्ड फार्म सर्विसेज़

विधेयक' जिसके अनुसार किसान अब अपने उत्पाद को ए.पी.एम.सी. मण्डी के लाइसेंसधारी व्यापारी के ज़रिये बेचने के लिए बाध्य नहीं हैं और साथ ही वे किसी भी कम्पनी, स्पॉन्सर, बिचौलिये के साथ किसी भी उत्पाद के उत्पादन के लिए सीधे क़रार कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें ए.पी.एम.सी. के लाइसेंसधारी आढ़तियों या व्यापारियों के ज़रिये जाने की आवश्यकता नहीं है। इसके तहत उत्पादन शुरू होने से पहले ही उत्पाद की तय मात्रा, तय गुणवत्ता व क़िस्म तथा तय क़ीमतों के आधार पर किसान और किसी भी निजी स्पांसर, कम्पनी, आदि के बीच क़रार होगा। इस क़रारनामे की अधिकतम अवधि उन सभी उत्पादों के मामले में पाँच वर्ष होगी जिनके उत्पादन में पाँच वर्ष से अधिक समय नहीं लगता है। इसके ज़रिये अनिवार्य वस्तुओं के स्टॉक पर रखी गयी अधिकतम सीमा को भी हटा दिया गया है। यानी अब तमाम अनिवार्य वस्तुओं की जमाखोरी पर किसी प्रकार की रोक नहीं होगी, जोकि कालान्तर में इन वस्तुओं जैसे कि आलू, प्याज़ आदि की क़ीमतों को बढ़ा सकता है।

अपने आप में ठेका खेती के आने से आम मेहनतकश आबादी को कोई विशेष नुक़सान नहीं होने वाला है। छोटा और मँझोला किसान पहले भी ठेका खेती की व्यवस्था का शिकार था। फ़र्क़ बस यह था कि अभी तक ठेका खेती की व्यवस्था में उसे धनी किसान व आढ़ती लूट रहे थे। अब इस लूट के मैदान को बड़ी इज़ारेदार पूँजी के लिए साफ़ कर दिया गया है। इसके नतीजे अलग-अलग देशों और अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग सामने आये हैं। पश्चिम बंगाल में पेप्सी कम्पनी के साथ आलू के उत्पादन की ठेका खेती में किसानों को प्रति किलोग्राम 5 रुपये तक ज़्यादा मिल रहे हैं। वहीं आन्ध्र प्रदेश में चन्द्रबाबू नायडू के मुख्यमंत्रित्व में जो ठेका खेती का मॉडल लागू किया गया, उसमें धनी और मंझोले किसानों को हानि हुई। ग़रीब व निम्न-मँझोला किसान तो पहले भी धनी व उच्च मध्यम किसानों द्वारा ठेका खेती व अन्य तरीक़ों से लूटा ही जा रहा था। वह अब बड़ी पूँजी द्वारा लूटा जायेगा। **इसलिए ठेका खेती पर केन्द्रित इस दूसरे विधेयक से जो मूल परिवर्तन होने वाला है, वह केवल इतना है कि व्यापक ग़रीब व निम्न-मंझोले किसान के लूट की धनी किसानों, उच्च मध्यम किसानों व आढ़तियों द्वारा इजारेदारी ख़त्म हो जायेगी और खेती के क्षेत्र में कारपोरेट पूँजी के बड़े पैमाने पर प्रवेश के साथ धनी किसान, कुलक व फ़ार्मरों के लिए प्रतिस्पर्द्धा करना मुश्किल हो जायेगा।**

तीसरा विधेयक सीधे तौर पर आवश्यक वस्तु क़ानून में परिवर्तन करते हुए जमाखोरी और काला बाज़ारी को बढ़ाने की छूट देता है क्योंकि ये कई आवश्यक वस्तुओं की स्टॉकिंग पर सीमा को युद्ध जैसी आपात स्थितियों के अतिरिक्त समाप्त कर देता है। यह तीसरा विधेयक सीधे तौर पर मेहनतकश जनता के हितों के विरुद्ध जाता है। यह वह विधेयक है जो कि सीधे-सीधे आम मेहनतकश जनता को प्रभावित करता है और उसके वर्ग हितों को नुक़सान पहुँचाता है और जिसका विरोध किये जाने की सख़्त ज़रूरत है। लेकिन आप पायेंगे कि धनी किसानों व कुलकों के राजनीतिक संगठनों के नेतृत्व में जो मौजूदा किसान आन्दोलन जारी है, वह इस तीसरे विधेयक पर ज़्यादा कुछ नहीं बोल रहा है।

इन विधेयकों का रिश्ता सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से बहाल करने की माँग से भी जुड़ा हुआ है। केन्द्र सरकार पहले से ही इस कोशिश में है कि वह सार्वजनिक वितरण प्रणाली की ज़िम्मेदारी से पूरी तरह से पिण्ड छुड़ा ले और यह ज़िम्मेदारी राज्य सरकारों पर डालने की वकालत कर रही है। ज़ाहिर है, इस प्रस्ताव का अर्थ ही यह है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया जाय जो कि व्यापक मेहनतकश आबादी की खाद्य सुरक्षा को समाप्त कर देगी। इसलिए समूचे मज़दूर वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग तथा ग़रीब व निम्न मध्यम किसान वर्ग की एक माँग यह भी बनती है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से बहाल किया जाये।

लुब्बेलुबाब यह कि मौजूदा किसान आन्दोलन जिन वजहों से कृषि विधेयकों का विरोध कर रहा है, वह मूलत: और मुख्यत: लाभकारी मूल्य के सवाल पर केन्द्रित है। इसकी मुख्य चिन्ता यह है कि इन विधेयकों के साथ लाभकारी मूल्य की व्यवस्था समाप्त हो जायेगी। इसलिए मुख्य रूप से गाँव के लेकिन साथ ही शहर के मज़दूर वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग और गाँव के ग़रीब किसान व अर्द्धसर्वहारा वर्ग के लिए प्रमुख प्रश्न यह बनता है कि लाभकारी मूल्य पर उसका क्या नज़रिया होना चाहिए।

लाभकारी मूल्य की व्यवस्था: किसका फ़ायदा, किसका नुक़सान?

लाभकारी मूल्य की व्यवस्था का लाभ मुख्यत: 4 से 6 प्रतिशत धनी किसानों व कुलकों को होता है। इसे आँकड़ों से समझना ज़रूरी है इसलिए कुछ आँकड़ों पर निगाह डाल लेते हैं। अभी हम पहले खेतिहर मज़दूरों की बात नहीं करेंगे और केवल किसानों पर केन्द्रित करेंगे।

2013 की नेशनल सैम्पल सर्वे रिपोर्ट के अनुसार देश के एक-तिहाई किसानों के पास 0.4 हेक्टेयर से कम ज़मीन है। उनकी कुल आमदनी का केवल छठा हिस्सा, यानी 16 प्रतिशत ही खेती से आता है और अन्य 84 प्रतिशत उजरती श्रम यानी मज़दूरी से आता है। इसके अलावा एक-तिहाई किसानों के पास 0.4 हेक्टेयर से 1 हेक्टेयर ज़मीन है। इनकी कुल आमदनी का 40 प्रतिशत खेती से आता है और अन्य 60 प्रतिशत मुख्यत: उजरती श्रम से आता है। इन दोनों को मिला दिया जाये, तो कुल किसान आबादी का 70 प्रतिशत बनता है।

इन किसानों को लाभकारी मूल्य मिलता ही नहीं है। क्यों नहीं मिलता है, इस पर थोड़ा आगे आयेंगे। दूसरी अहम बात यह है कि

ये किसान मुख्य रूप से कृषि उत्पादों के ख़रीदार हैं, न कि विक्रेता। नतीजतन, लाभकारी मूल्य में होने वाली किसी भी बढ़ोत्तरी से इन्हें फ़ायदा नहीं बल्कि नुक़सान होता है। वजह यह है कि लाभकारी मूल्य के बढ़ने के साथ हमेशा ही कृषि उत्पादों की क़ीमतों और साथ ही अपने उत्पादन के लिए उन पर निर्भर औद्योगिक उत्पादों की क़ीमतों में भी बढ़ोत्तरी होती है।

आँकड़ों के अनुसार, इन 70 प्रतिशत किसानों का अपने उपभोग पर ख़र्च इनकी आमदनी से ज़्यादा रहता है। नतीजतन, अपने खेतों पर काम करने के लिए चालू पूँजी (working capital) के लिए ये ऋण पर निर्भर रहते हैं। यह ऋण इन्हें वित्तीय संस्थाओं से नहीं मिलता क्योंकि बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं के ऋण तक इनकी पहुँच ही नहीं है। फिर इन्हें ये ऋण कौन देता है? ये ऋण इन्हें धनी किसान, कुलक व आढ़ती देते हैं। अक्सर धनी किसान ही कृषि उत्पादों का व्यापारी व आढ़ती भी होता है और इन ग़रीब किसानों के लिए लुटेरा सूदखोर भी। **चूँकि 70 प्रतिशत बेहद ग़रीब किसान इनके ऋणों तले दबा होता है, इसलिए ये धनी किसान, कुलक व आढ़ती इन्हें लाभकारी मूल्य व बाज़ार क़ीमत से बेहद कम दाम पर अपने उत्पाद को उन्हें बेचने के लिए बाध्य करते हैं। इसके अलावा, ग़रीब और निम्न मध्यम किसान इसलिए भी सीधे मण्डियों तक पहुँच नहीं रखते क्योंकि उसके लिए परिवहन की सुविधा तथा पूँजी की आवश्यकता होती है, जोकि इनके पास होती ही नहीं और वे अपने उत्पाद के विपणन के लिए इसलिए भी ग्रामीण क्षेत्र के पूँजीपति वर्ग यानी धनी किसान, कुलक, आढ़तियों व सूदखोरों पर निर्भर करते हैं। इस उत्पाद को ये धनी किसान, कुलक व आढ़ती लाभकारी मूल्य पर बेचते हैं और साथ ही आढ़ती इस लाभकारी मूल्य के ऊपर कमीशन भी कमाते हैं।**

देश के 92 प्रतिशत किसानों के पास 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन है। यानी कि ग़रीब और बेहद ग़रीब व परिधिगत किसान आबादी को जोड़ दें, तो कुल किसान आबादी का 92 प्रतिशत बनता है। ये वे किसान हैं जिन्हें लाभकारी मूल्य का या तो कोई लाभ नहीं मिलता और नुक़सान होता है, या फिर ज़्यादा से ज़्यादा इसके बेहद छोटे उच्चतम हिस्से को कुछ नगण्य लाभ मिलता है। ये वे किसान हैं जो कृषि उत्पाद, मुख्यत: खाद्यान्न के ख़रीदार हैं, न कि विक्रेता। इन्हें लाभकारी मूल्य और उसमें होने वाली बढ़ोत्तरी से कुछ भी हासिल नहीं होता है, उल्टे नुक़सान होता है।

फिर लाभकारी मूल्य से लाभ किसे होता है? इस पर भी तथ्यों को देख लेते हैं।

देश के कुल किसानों में से केवल 4.1 प्रतिशत किसान हैं जिनके पास 4 हेक्टेयर या उससे ज़्यादा ज़मीन है। इनकी आमदनी का तीन चौथाई हिस्सा खेती से आता है। बाक़ी भी कमीशन व सूदखोरी आदि से ही आता है, उजरती श्रम से कम ही आता है। यानी इनकी घरेलू अर्थव्यवस्था खेती से आने वाली आमदनी पर टिकी हुई है। याद रखें, ये आम तौर पर वे किसान हैं, जो उजरती श्रम का शोषण करके ही खेती कर सकते हैं। ये स्वयं अपने और अपने परिवार के श्रम के बूते खेती नहीं करते। वास्तव में, ज़्यादातर मामलों में वे स्वयं खेत में श्रम करते ही नहीं हैं और इनके खेतों में उत्पादक श्रम पूरी तरह से उजरती श्रम करने वाले खेत मज़दूर या ग़रीब किसान होते हैं। ये वह वर्ग है जो कोई कर नहीं देता है, जिन्हें सभी क़र्ज़ माफ़ी की योजनाओं का लाभ मिलता है और जो लाभकारी मूल्य की व्यवस्था के लाभार्थी हैं। इन्हें "अन्नदाता" कहना एक भद्दा मज़ाक़ है। अगर ये धनी किसान व कुलक अन्नदाता हैं, तो रिलायंस गैसदाता है, लिबर्टी जूतादाता है, टाइटन घड़ीदाता है, इत्यादि। यह तर्क वही है जो नरेन्द्र मोदी ने दिया है: कि पूँजीपति समृद्धि पैदा करता है। सच यह है कि खेतिहर मज़दूर और ग़रीब किसान देश के अन्नदाता हैं और धनी किसान और कुलक इन मेहनतकश वर्गों की श्रमशक्ति को लूटने वाले परजीवी वर्ग हैं।

शान्ता कुमार कमेटी की रपट के अनुसार देश के सभी किसानों में से केवल 5.8 प्रतिशत किसान ही लाभकारी मूल्य पर अपने उत्पाद को बेच पाते हैं और ये भी अपने उत्पाद का 14 से 35 प्रतिशत ही लाभकारी मूल्य पर बेच पाते हैं। वजह यह है कि लाभकारी मूल्य का भी पूरा लाभ केवल धनी किसान व कुलक ही उठा पाते हैं, न कि उच्च मध्यम व मध्यम किसान।

अब देखते हैं कि लाभकारी मूल्य के बढ़ने का मेहनतकश आबादी पर क्या असर पड़ता है।

2016 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने एक रपट पेश की जिसे सज्जाद चिनॉय, पंकज कुमार और प्राची मिश्रा ने लिखा था। यह रपट भारत में लाभकारी मूल्य की व्यवस्था और कृषि उत्पाद की क़ीमतों पर विस्तार से चर्चा करती है। इसके अनुसार, लाभकारी मूल्य के बढ़ने का सबसे ज़्यादा नुक़सान ग्रामीण और शहरी मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को होता है। वजह यह है कि जब भी लाभकारी मूल्य बढ़ता है तो खाद्यान्न महँगा होता है और साथ ही वे औद्योगिक उत्पाद भी महंगे होते हैं, जो अपने उत्पादन के इनपुट यानी कच्चे माल के तौर पर कृषि उत्पादों का उपयोग करते हैं। ज़ाहिर है ऐसे औद्योगिक मालों के दायरे में बड़े पैमाने पर वे वस्तुएं आती हैं, जो व्यापक मेहनतकश आबादी ख़रीदती है। **नतीजतन, एक ओर खाद्यान्न की क़ीमतें बढ़ती हैं और दूसरी ओर मज़दूरों-मेहनतकशों द्वारा ख़रीदे जाने वाले ग़ैर-खेती उत्पादों की क़ीमतों में भी वृद्धि होती है।**

खाद्यान्न की माँग में एक हद तक ही लचीलापन होता है और वह ज़्यादा रूढ़ होती है, इसलिए बढ़ती क़ीमतों के बावजूद उनकी माँग एक स्तर से नीचे नहीं गिर सकती है। लेकिन अन्य वस्तुओं की माँग में अधिक लचीलापन होता है और नतीजतन उनकी माँग में गिरावट आती है। **इन सबका नतीजा यह होता है कि**

मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी के परिवारों के ख़र्च में खाद्यान्न पर ख़र्च होने वाला हिस्सा अपने आप में तो कम होता है, लेकिन अन्य वस्तुओं व सेवाओं पर होने वाले ख़र्च की तुलना में बढ़ता है। सरल शब्दों में कहें तो एक ओर आम मेहनतकश आबादी पहले से कम भोजन का उपभोग करती है और उसकी भोजन सुरक्षा घटती है, मगर फिर भी वह अपनी आमदनी का पहले से ज़्यादा बड़ा हिस्सा भोजन पर ख़र्च कर रही होती है और नतीजतन, अन्य वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग वह पहले से कम करती है, जिसके कारण इन वस्तुओं और सेवाओं की कुल घरेलू माँग में भी कमी आती है।

इसका नतीजा भी यह होता है कि मुनाफ़े की दर के संकट की शिकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था घरेलू माँग के सिमटने के कारण संकट के भँवर में और भी गहरी फंस जाती है, क्योंकि उत्पादित मालों का न बिक पाना (वास्तवीकरण का संकट) अपने आप में संकट का कारण नहीं होता, लेकिन पहले से मौजूद मुनाफ़े की औसत दर के गिरने के संकट को बढ़ावा देता है। अन्त में, इसकी क़ीमत भी मज़दूर वर्ग ही चुकाता है क्योंकि निवेश की दर इस संकट के कारण गिरती है और मज़दूर वर्ग को छँटनी व तालाबन्दी और नतीजतन बढ़ती बेरोज़गारी और घटती औसत मज़दूरी का सामना करना पड़ता है।

औद्योगिक पूँजीपति वर्ग और कृषक पूँजीपति वर्ग के बीच अन्तरविरोध और मज़दूर वर्ग की अवस्थिति

खाद्यान्न की क़ीमतों और खेती के उत्पादों पर अपने उत्पादन के लिए निर्भर औद्योगिक उत्पादों की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए भी बुरे शकुन के समान होती है। यह एक ओर औसत मज़दूरी पर बढ़ोत्तरी का दबाव पैदा करती है और वहीं दूसरी ओर उन औद्योगिक उत्पादों की कुल माँग में कमी लाती है, जो कि मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी ख़रीदती है, यानी कि तमाम ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियाँ।

औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए भी यह अच्छा नहीं होता है क्योंकि एक ओर उसके द्वारा उत्पादित ग़ैर-टिकाऊ उपभोक्ता सामग्रियों की माँग पहले से घटती है और एक वास्तवीकरण (यानी अपना माल बेच पाने) की समस्या पैदा होती है और दूसरी ओर औद्योगिक मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव पैदा होता है। **निश्चित तौर पर, मज़दूरों को बेची जाने वाली ग़ैर-खेती वस्तुओं और सेवाओं की माँग में कमी अपने आप में पूँजीवादी संकट पैदा नहीं करती है (क्योंकि पूँजीवादी संकट का मूल मुनाफ़े की औसत दर के गिरने का संकट है जो कि पूँजीपति वर्ग की आपसी ख़रीद में कमी आने में अभिव्यक्त होता है, जिसका बड़ा हिस्सा उत्पादन के साधनों की ख़रीद-फ़रोख़्त होता है), लेकिन वे पूँजीवादी संकट को तीव्र करती हैं।** लेकिन औसत मज़दूरी में बढ़ोत्तरी मुनाफ़े की औसत दर को और भी घटाती है क्योंकि कुल उत्पादित मूल्य में यदि मज़दूरी का हिस्सा बढ़ता है तो मुनाफ़े का हिस्सा सापेक्षिक रूप से घटता है। एक ओर पूँजी के बढ़ते आवयविक संघटन के कारण और दूसरी ओर औसत मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के दबाव के कारण पूँजीवादी आर्थिक संकट पैदा होता है और मज़दूरों द्वारा ख़रीदे जाने वाले औद्योगिक उत्पादों की माँग में कमी के कारण उसके सामने वास्तवीकरण का जो संकट पैदा होता है, वह इस संकट को और भी तीव्र बना देता है।

औसत मज़दूरी पर बढ़ने के लिए पैदा होने वाले दबाव के बावजूद औद्योगिक पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी को बढ़ने से रोकने का हर सम्भव प्रयास करता है, जिसका नतीजा मज़दूर वर्ग को भुगतना पड़ता है। **लेकिन अगर खाद्यान्नों व खेती के उत्पादों की क़ीमतें बढ़ती रहती हैं और इसकी वजह से उन औद्योगिक उत्पादों (जिन्हें मज़दूर ख़रीदते हैं) की क़ीमतें बढ़ती रहती हैं जो कि खेती के उत्पादों को अपने उत्पादन के कच्चे माल के तौर पर लेते हैं, तो फिर पूँजीपति वर्ग को एक सीमा के बाद मज़दूरी को बढ़ाना ही पड़ता है क्योंकि मज़दूर वर्ग ऐसी स्थिति में काम करने योग्य हालत में अपनी श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन नहीं कर सकता है। साथ ही यह समाज में असन्तोष को बढ़ाता है और एक विस्फोटक स्थिति की तरफ़ जा सकता है। ऐसा सामाजिक संकट कुछ अन्य पूर्वशर्तों के पूरा होने पर राजनीतिक संकट में भी तब्दील हो सकता है। इसलिए भी पूँजीपति वर्ग को ऐसी स्थितियों में मज़दूरी बढ़ानी पड़ सकती है।**

इतिहास गवाह है कि औद्योगिक व वित्तीय पूँजीपति वर्ग द्वारा खेती के उत्पादन तथा उसके उत्पादों के व्यापार के क्षेत्र के उदारीकरण, यानी उसे पूर्ण रूप से बाज़ार की शक्तियों के हवाले किये जाने से खेती के क्षेत्र में भी इजारेदारीकरण बढ़ता है, बड़ी कारपोरेट पूँजी तथा धनी किसानों व कुलकों के वर्ग के एक *हिस्से को* उससे लाभ ही होता है। निश्चित तौर पर, इससे धनी व उच्च मध्यम किसानों का भी एक छोटा हिस्सा बरबाद होता है या सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम में नीचे जाता है। लेकिन ग़रीब किसानों और खेतिहर मज़दूरों की व्यापक आबादी के लिए ऐसे उदारीकरण से पहले की व्यवस्था भी कोई विशेष लाभदायक नहीं होती है। इस प्रकार के उदारीकरण का उसके लिए मुख्य असर यही होता है कि उसे लूटने और खसोटने वाला प्रमुख वर्ग बदल जाता है। उसकी लूट पहले भी जारी होती है और बाद में भी और पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर इसे ख़त्म किया ही नहीं जा सकता है। वह धनी किसानों व कुलकों द्वारा खेतिहर उत्पादन व खेती के उत्पाद के व्यापार की व्यवस्था में भी लुट और बरबाद हो रहा होता है और बड़ी कारपोरेट पूँजी के इस क्षेत्र में प्रवेश के बाद भी उसकी नियति लुटना और उजड़ना ही होता है।

इसलिए लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बनाये रखने

या उसे बढ़ाने या ए.पी.एम.सी. मण्डियों की व्यवस्था को ज्यों का त्यों बरकरार रखने या न रखने का मसला ग्रामीण खेतिहर पूँजीपति वर्ग और बड़े इजारेदार कारपोरेट पूँजीपति वर्ग के बीच का विवाद है। इसमें ग्रामीण खेतिहर मज़दूरों, ग्रामीण ग़ैर-खेतिहर मज़दूरों, ग़रीब व निम्न मंझोले किसानों, शहरी औद्योगिक व ग़ैर-औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को धनी किसानों व कुलकों या कारपोरेट पूँजीपति वर्ग का साथ देने की कोई आवश्यकता नहीं है।

धनी किसान व कुलक अचानक "मज़दूर-किसान एकता" का हिमायती क्यों हो गया है?

पहली बात तो यह है कि किसान *विशेष तौर पर* पूँजीवादी समाज में कोई एक सजातीय या एकाश्मी वर्ग नहीं होता है। सबसे पहले यह पूछना पड़ता है कि हम किस किसान की बात कर रहे हैं। क्या हम उन 86 प्रतिशत ग़रीब व परिधिगत किसानों की बात कर रहे हैं जो कि सवा हेक्टेयर से भी कम ज़मीन के मालिक हैं और मुख्य रूप से अपने जीविकोपार्जन के लिए उजरती श्रम पर निर्भर हैं, या फिर उन किसानों की बात कर रहे हैं जो कि 4 हेक्टेयर से अधिक भूमि के मालिक हैं और लाभकारी मूल्य का फ़ायदा पाते हैं और अच्छा-ख़ासा राजनीतिक असर और दबदबा रखते हैं।

इस दबदबे की शुरुआत कैसे हुई? इस पर भी एक नज़र डाल लेना उपयोगी होगा। 1960 में तथाकथित हरित क्रान्ति के बाद भारत में धनी किसानों व कुलकों-फार्मरों का एक विचारणीय आकार का वर्ग अस्तित्व में आया। इसमें धनी काश्तकार किसान भी शामिल थे। इस वर्ग के अस्तित्व में आने के बाद 1970 के दशक में इसका राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी पूँजीवादी राजनीति में बढ़ने लगा। इसका अपनी माँगों के लेकर दबाव क्रमिक प्रक्रिया में बढ़ता गया। इसी दौर में चरण सिंह और देवी लाल जैसे नेता धनी किसानों व कुलकों के इस वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और उनकी उपस्थिति को राष्ट्रीय राजनीतिक पटल पर महसूस किया जाने लगा।

1980 के दशक की शुरुआत तक खेती के क्षेत्र में सरकारी नीति का ज़्यादा ध्यान खेती में सार्वजनिक निवेश के ज़रिये अवसरंचनागत ढाँचे को खड़ा करना था। इस समय तक सिंचाई व खेती के अन्य अवसंरचनागत ढाँचों में सार्वजनिक निवेश द्वारा बेहतरी पर ज़ोर था। वास्तव में, समूचे भारतीय पूँजीवादी विकास के पथ में ही 1980 के दशक की शुरुआत तक सरकारी निवेश द्वारा पूँजीपतियों के लिए एक अवसरंचना खड़ा करने पर ज़ोर था। जब एक दफ़ा निजी पूँजीपति वर्ग उद्योग की दुनिया में भी अपने पांवों पर खड़ा हो गया और एक अवसरंचनागत ढाँचा खड़ा हो गया तो फिर पूँजीवादी राज्यसत्ता ने एक क्रमिक प्रक्रिया में अर्थव्यवस्था में उदारीकरण की शुरुआत कर दी। **खेती के क्षेत्र में यह प्रक्रिया थोड़ा अलग तरीक़े से घटित हुई, हालांकि मूल तर्क वही था।**

हरित क्रान्ति के बाद धनी किसानों व कुलकों-फार्मरों के एक विचारणीय आकार के वर्ग के निर्माण के बाद खेती की अवसरंचना में निवेश की बजाय सरकारी नीति के केन्द्र में एक लाभकारी मूल्य को सुनिश्चित करने पर ज़ोर बढ़ गया। 1980 के दशक के अन्त तक कृषि उत्पाद की सरकारी ख़रीद का लगभग 70 प्रतिशत हिस्सा हरियाणा और पंजाब से आने लगा था। इस नीतिगत परिवर्तन के साथ खेती की अवसरंचना में सार्वजनिक निवेश में कमी आने लगी और पूरा ज़ोर लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पर आ गया। उस समय खेती के क्षेत्र में पूँजी संचय भारतीय पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता थी और इसके लिए इस व्यवस्था की आवश्यकता थी। जब यह नीति परिवर्तन हुआ तो उसका सबसे नकारात्मक असर ग़रीब और निम्न मध्यम किसान पर पड़ा जो कि सिंचाई आदि के लिए मानसून पर निर्भर थे। धनी किसान व कुलक सिंचाई के लिए मानसून पर उस हद तक निर्भर नहीं थे और भूजल के दोहन पर निर्भर कर सकते थे। रियायती दरों पर बिजली ने इसे धनी किसानों और कुलकों के लिए और भी सुगम बना दिया। कृषि में पूँजीवादी विकास व पूँजी संचय और इसके लिए एक खेतिहर पूँजीपति वर्ग का विस्तार उस दौर में भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत थी और खेतिहर पूँजीपति वर्ग और औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग के बीच का यह क़रार इसी ज़रूरत की ही अभिव्यक्ति था।

आज के दौर में भारत के इजारेदार पूँजीपति वर्ग की ज़रूरतें बदल चुकी हैं। वैश्विक संकट के दौर में भारतीय खेती में भी संकट का एक दौर शुरू हुआ। **इस संकट के दौर में भी देश की समूची किसान आबादी के ऊपर के 4 प्रतिशत धनी किसानों व कुलकों का ज़्यादा नुक़सान नहीं हुआ है, बल्कि ज़्यादातर मामलों में फ़ायदा ही हुआ है। वे अब तक लाभकारी मूल्य के तंत्र के बूते अपने पूँजी संचय को जारी रखने में कामयाब रहे हैं। इस संकट के पूरे दौर में, यानी 2004 से 2016 के बीच भी, भारतीय धनी किसानों व कुलकों द्वारा पावर टिलरों की ख़रीद में तीन गुना व ट्रैक्टरों की ख़रीद में ढाई गुना की बढ़ोत्तरी हुई है। दूसरे शब्दों में, भारत के ग्रामीण खेतिहर पूँजीपति वर्ग द्वारा पूँजी संचय कमोबेश स्वस्थ रूप से जारी रहा है और खेती में निवेश की उनकी दर और क्षमता में कुल मिलाकर बढ़ोत्तरी ही हुई है।** फिर कृषि के संकट के कारण आत्महत्या करने वाले किसान कौन हैं? ये ज़्यादातर ग़रीब व पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले खेतिहर मज़दूर व अर्द्धसर्वहारा हैं, जोकि हमेशा ही ऋण तले दबे रहते हैं।

आज जब लाभकारी मूल्य व सरकारी मण्डियों की व्यवस्था इस धनी किसान व कुलक वर्ग से छीनी जा रही है, तो वह अचानक "मज़दूर-किसान एकता" का समर्थक बन गया है! आइए देखते हैं कि अभी हाल ही में और पहले भी यह धनी किसान व कुलक वर्ग खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों के साथ क्या बर्ताव करता रहा है।

हाल ही में लॉकडाउन के शुरू होने के बाद पंजाब और

हरियाणा में प्रवासी खेतिहर मज़दूरों की संख्या में बेहद कमी आ गयी थी। इसके कारण खेतिहर मज़दूरों द्वारा श्रमशक्ति की आपूर्ति में बेहद कमी आ गयी। इस आपूर्ति में कमी आने के कारण नैसर्गिक तौर पर खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ोत्तरी होने लगी। **ऐसे में, पंजाब और हरियाणा के कई गाँवों में धनी किसानों, उच्च मध्यम किसानों व कुलकों ने बाक़ायदा अपनी पंचायतों, खापों व सभाओं में मत डालकर अधिकतम मज़दूरी तय की। किसी भी किसान को इससे ज़्यादा मज़दूरी देने की इजाज़त नहीं थी और न ही गाँव के किसी खेत मज़दूर को कहीं और जाकर काम करने की इजाज़त थी। अगर वह जाता है तो उसका बहिष्कार किया जायेगा! यानी, गाँव के खेत मज़दूरों को धनी किसानों द्वारा तय मज़दूरी पर मज़दूरी करने के लिए बाध्य किया गया। उस समय मज़दूर-किसान एकता का नारा धनी किसानों व कुलकों के संगठनों को याद नहीं आया था।**

धनी किसानों व कुलकों ने खेत मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी व अन्य श्रम अधिकारों को सुनिश्चित करने की माँगों का हमेशा विरोध किया है। श्रम क़ानून एक पूँजीवादी व्यवस्था में *कम-से-कम औपचारिक तौर पर* राज्यसत्ता द्वारा दिया जाने वाला एक प्रकार का संरक्षण है, ठीक उसी प्रकार जैसे लाभकारी मूल्य धनी किसानों व कुलकों को राज्यसत्ता द्वारा दिया जाने वाला एक संरक्षण है, हालांकि ये दो अलग प्रकार के संरक्षण हैं। **धनी किसान व कुलक अपने लिए तो राज्यसत्ता से संरक्षण चाहते हैं, लेकिन ग़रीब किसान व खेत मज़दूर यदि अपने लिए श्रम क़ानूनों के रूप में संरक्षण की माँग करते हैं, तो उसका विरोध करते हैं। क्या मौजूदा किसान आन्दोलन चला रहे तमाम किसान संगठन इस माँग को स्वीकार करेंगे कि सभी खेत मज़दूरों को भी क़ानूनी तौर पर साप्ताहिक छुट्टी, आठ घण्टे का कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी, दोगुनी दर से ओवरटाइम का भुगतान आदि प्राप्त हो? क्या मौजूदा आन्दोलन की माँगों में वे इन माँगों को शामिल करेंगे और इन्हें प्राथमिकता देंगे? नहीं!**

तो फिर इन धनी किसानों व कुलकों के मंचों से आज अचानक जो "मज़दूर-किसान एकता" का नारा उठाया जा रहा है, उसका मतलब क्या है? कुछ भी नहीं! यह धनी किसानों और कुलकों की माँगों के लिए ग़रीब किसानों व खेत मज़दूरों को उनके ही वर्ग हित के ख़िलाफ़ इकट्ठा करना है। **यह भी जगजाहिर है कि मौजूदा आन्दोलन की तमाम रैलियों व प्रदर्शनों में स्वयं धनी किसान व कुलक तो कम ही जाते हैं, लेकिन वे ग़रीब, निम्न मध्यम किसानों व खेत मज़दूरों को भेजने का प्रबन्ध कर देते हैं। यानी उनकी माँगों के लिए चल रहे आन्दोलन में भी लाठी खाने और जेल जाने का काम ग़रीब, निम्न मध्यम किसानों व खेत मज़दूरों को सौंप दिया जाता है।**

एक ओर गाँवों में धनी किसानों, सूदखोरों, आढ़तियों पर अपनी निर्भरता के कारण और दूसरी ओर अपनी स्वतंत्र वर्ग चेतना व वर्ग संगठन के अभाव में गाँव के सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा तथा ग़रीब व निम्न मध्यम किसान धनी किसानों और कुलकों की उन माँगों के लिए चल रहे आन्दोलन में जाते भी हैं, जोकि उनके ख़िलाफ़ जाते हैं। कुछ को यह ग़लतफ़हमी भी होती है कि यदि लाभकारी मूल्य बढ़ेगा तो उन्हें भी अपनी उपज का बेहतर दाम मिलेगा या बेहतर मज़दूरी मिलेगी, हालांकि आनुभविक तौर पर देखें तो ऐसा कोई 'ट्रिकल डाउन' होता नहीं है। यह भी नवउदारवादी 'ट्रिकल डाउन' सिद्धान्त का एक कुलक संस्करण मात्र ही है।

ऐसे में ज़रूरत यह है कि इन ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों तथा खेत मज़दूरों को धनी किसानों व कुलकों के संगठनों के राजनीतिक नेतृत्व और प्रभाव से अलग किया जाय। उन्हें उनके वर्ग हितों के प्रति सचेत बनाना और उनके अलग वर्गीय संगठनों का निर्माण आज गाँवों में क्रान्तिकारी संगठन के कार्य की एक बुनियादी ज़रूरत है। उनकी मूल माँग रोज़गार की है और उन्हें रोज़गार गारण्टी के लिए ही लड़ना चाहिए। साथ ही, खेत मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी, साप्ताहिक छुट्टी, आठ घण्टे के कार्यदिवस, दोगुनी दर से ओवरटाइम के भुगतान, ई.एस.आई.-पी.एफ. के अधिकारों के लिए संघर्ष करना चाहिए। गाँव के ग़रीबों की तात्कालिक माँगें आज यही बनती हैं।

न तो उनमें छोटी जोत की किसानी को बचाने का नारा दिया जा सकता है (जो कि उनका खून ही चूसती रहती है और देती कुछ नहीं है, बस लेती जाती है); यह एक प्रतिक्रियावादी रूमानी नारा होगा। जैसा कि लेनिन ने कहा था, कम्युनिस्टों को ग़रीब किसानों को सच बताना चाहिए न कि उन्हें किसी भ्रम में जीने का आदी बनाना चाहिए। चाहे कुछ भी कर लिया जाय, पूँजीवादी व्यवस्था के रहते छोटी जोत की खेती का कोई भविष्य नहीं है। कुछ आंकड़ों के आइने में इस सच्चाई को देखते हैं।

2001 से 2011 के बीच ही खेतिहर मज़दूरों की संख्या में भारत में 35 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। ये बढ़ोत्तरी मुख्यत: ग़रीब व निम्न मध्यम किसानों के तबाह होने से हुई, जो कि सतत् ऋणग्रस्तता में जीते हैं। आत्महत्याओं की दर भी इन्हीं ग़रीब किसानों में सबसे ज़्यादा है। **2001 से 2011 के बीच किसानों की संख्या में करीब 90 लाख की कमी आई थी।** निश्चित तौर पर, यह उसके बाद और भी तेज़ी से बढ़ी है क्योंकि कृषि संकट उसके बाद के दौर में गहराया ही है। **2011 में 26.3 करोड़ लोग खेती में लगे थे, जिनमें से आधे से भी ज़्यादा खेतिहर मज़दूर थे। किसानों की तादाद इसी दशक में 12.7 करोड़ से घटकर 11.8 करोड़ रह गयी थी।** इस किसान आबादी में भी 90 प्रतिशत परिधिगत, बेहद छोटे या छोटे किसान थे, जिनकी आजीविका का मुख्य आधार खेती नहीं रह गया है, बल्कि उजरती श्रम है।

यानी, मध्यम, उच्च मध्यम व धनी किसानों व कुलकों की आबादी आज मुश्किल से एक से डेढ़ करोड़ है, और यही आबादी है जो कि खेतिहर मज़दूरों का भूस्वामी के तौर पर, सूदखोर के तौर पर, पूँजीवादी फार्मर के तौर पर और व्यापारी और आढ़तिये के तौर पर सबसे ज़्यादा शोषण और उत्पीड़न करती है और उनकी मज़दूरी और काम के हालात को बुरी से बुरी स्थिति में बनाये रखने के लिए हर सम्भव कोशिश करती है। और अब जबकि कारपोरेट पूँजी खेती के क्षेत्र में घुस रही है और ये ग्रामीण पूँजीपति वर्ग उससे प्रतिस्पर्द्धा में तबाह होने की सम्भावना से भयाक्रान्त है, तो सहसा वह "मज़दूर-किसान एकता" का राग गाने लगा है! इस पर सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसानों का जवाब होना चाहिए कि लाभकारी मूल्य की लड़ाई किसी भी रूप में उसके हक़ में नहीं ठहरती है और उसकी मूल माँग है रोज़गार गारण्टी, खेत मज़दूरों के लिए सभी श्रम अधिकार और धनी किसानों, व्यापारियों, आढ़तियों के क़र्ज़ से पूर्ण मुक्ति।

तीन कृषि विधेयकों के प्रावधानों में मज़दूरों और मेहनतकशों के ख़िलाफ़ क्या है?

तीन कृषि विधेयकों में जो प्रावधान विशिष्ट रूप में मज़दूरों के विरुद्ध जाता है वह है आवश्यक वस्तुओं के क़ानून में परिवर्तन। इस क़ानून के ज़रिये उन तमाम बुनियादी वस्तुओं की जमाखोरी, कालाबाज़ारी और उनकी क़ीमतों में कृत्रिम रूप से बढ़ोत्तरी करने की व्यापारिक पूँजी और दलाल बिचौलिये वर्ग की क्षमता बढ़ेगी। **व्यापारिक पूँजीपति वर्ग और साथ ही धनी किसान व कुलक वर्ग इन वस्तुओं की जमाखोरी कर कृत्रिम अभाव की स्थिति पैदा करेंगे और क़ीमतों को इस तरीक़े से बढ़ाकर अधिक मुनाफ़ा कमा सकते हैं।**

यह तीसरा विधेयक मज़दूरों और मेहनतकशों के सीधे ख़िलाफ़ जाता है और मज़दूरों और मेहनतकशों को अपने विरोध का निशाना मुख्यत: इस विधेयक पर रखना चाहिए। साथ ही, सरकार द्वारा सार्वजनिक वितरण प्रणाली को राज्य सरकारों के ज़िम्मे डालने के बहाने समाप्त करने की जारी साज़िश का आम मेहनतकश आबादी को विरोध करना चाहिए।

कुछ लोगों का दावा है कि यदि ए.पी.एम.सी. मण्डियों में व्यापार बन्द हो गया तो फिर इनमें काम करने वाले मज़दूरों की नौकरियाँ चली जायेंगी। **तात्कालिक तौर पर ऐसा हो भी सकता है, लेकिन यदि ए.पी.एम.सी. मण्डियों में व्यापार नहीं होगा, तो इसका यह अर्थ क़तई नहीं है कि अनाज व खेती के अन्य उत्पादों का व्यापार ही नहीं होगा। यह व्यापार जारी रहेगा और उसमें मज़दूरों की ज़रूरत भी बनी रहेगी। बस अन्तर यह होगा कि अब यह कार्यशक्ति ए.पी.एम.सी. मण्डियों में ठेकेदारों व आढ़तियों के मातहत काम नहीं करेगी, बल्कि बड़ी कारपोरेट पूँजी के अनाज प्राप्ति व ख़रीद की व्यवस्था में काम करेगी।**

क्या बड़ी कारपोरेट पूँजी के इस क्षेत्र में प्रवेश के साथ इसमें रोज़गार घटेंगे? यह भी कई कारकों पर निर्भर करता है। चूंकि आम तौर पर बड़ी कारेपोरेट पूँजी के किसी भी क्षेत्र में प्रवेश के साथ पूँजी का आवयविक संघटन बढ़ता है और प्रति इकाई रोज़गार घटता है, इसलिए कम-से-कम तात्कालिक तौर पर रोज़गार में कमी *आ भी* सकती है। लेकिन अगर उत्पादन और व्यापार विस्तारित होते हैं, तो वह बढ़ भी सकता है। **सिर्फ़ इस आधार पर कि इस क्षेत्र में बड़ी कारपोरेट पूँजी आयेगी और अपेक्षाकृत छोटी पूँजी प्रतिस्पर्द्धा में पराजित होगी, इसका विरोध करने का कोई अर्थ नहीं है। दूसरी बात, पूँजीवादी व्यवस्था के रहते इसके अलावा किसी और परिणाम की अपेक्षा करना और उसके प्रति लोगों में आशा पैदा करना प्रतिक्रियावादी और रूमानीवादी अवस्थिति है।**

मज़ेदार बात यह है कि जो लोग ए.पी.एम.सी. मण्डियों के अप्रासंगिक होने के साथ यहाँ काम करने वाले मज़दूरों की नौकरियों के जाने की शंका से पेट में मरोड़ उठाए बैठे हैं, वे धनी किसानों और कुलकों के मंच पर जाकर 'ता-ता थैया' कर रहे हैं, जबकि ये धनी किसान और कुलक अपने मंचों पर इन मण्डियों को बचाए जाने को लेकर कोई ख़ास शोरगुल नहीं कर रहे हैं, *बल्कि यह कह रहे हैं कि यदि इन मण्डियों के बाहर व्यापार क्षेत्रों में व्यापार की इजाज़त दी जाती है, तो किसानों को लाभकारी मूल्य का क़ानूनी हक़ दिया जाय, जिससे कि कोई भी ख़रीदार चाहे कहीं भी कृषि उत्पाद ख़रीदे, लाभकारी मूल्य पर ही ख़रीदे।* **यानी इन धनी किसानों और कुलकों को ए.पी.एम.सी. मण्डियों में काम करने वाली मज़दूर आबादी की नौकरियों की चिन्ता नहीं है। उन्हें केवल लाभकारी मूल्य की चिन्ता है।**

हमें इन मज़दूरों के लिए भी रोज़गार गारण्टी और नियमितीकरण की माँग करनी चाहिए। ए.पी.एम.सी. मण्डियों और लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बचाना अपने आप में हमारे लिए कोई कार्यभार नहीं है। हम इन मज़दूरों के लिए भी सरकार की ओर से रोज़गार गारण्टी की माँग करेंगे, न कि धनी किसानों व कुलकों के लिए लाभकारी मूल्य के तंत्र को बचाने की माँग, जो कि इन मज़दूरों के ही ख़िलाफ़ जाती है। और यदि धनी किसान, कुलक, सूदखोर और आढ़तिये ए.पी.एम.सी. मण्डियों को बचाने की बात करते हैं, तो हमें उनसे इसके समर्थन की पूर्वशर्त के तौर पर यह माँग करनी चाहिए कि इन मण्डियों में काम करने वाले सभी मज़दूरों को नियमित किया जाय, उन्हें सभी श्रम अधिकार दिये जायें, जैसे कि 8 घण्टे का कार्यदिवस, न्यूनतम मज़दूरी, इत्यादि। ज़ाहिर है, ये आढ़तिये, बिचौलिये और सूदखोर (जो अक्सर स्वयं धनी किसान या कुलक भी होते हैं!) इन मज़दूरों की इन माँगों की कोई चर्चा नहीं कर रहे हैं।

इसी से यह प्रश्न भी उठता है कि क्या धनी किसानों व कुलकों के आन्दोलन के मंच पर जाकर हम इन विधेयकों के उन प्रावधानों का कोई अर्थपूर्ण विरोध कर सकते हैं, जो कि व्यापक आम

मेहनतकश जनता के ख़िलाफ़ जाते हैं?

क्या धनी किसानों व कुलकों के इस आन्दोलन से तात्कालिक तौर पर रणकौशलात्मक फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा बन सकता है?

इसका सीधा उत्तर है: नहीं! क्यों? फ़ासीवाद के विरुद्ध कोई तात्कालिक रणकौशलात्मक मोर्चा भी ऐसे आन्दोलनों के साथ नहीं बन सकता है, जिनकी माँगें सीधे सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाती हों। आम तौर पर ही यदि शासक वर्ग के दो धड़ों के बीच आपसी अन्तरविरोध है, तो सर्वहारा वर्ग दांव-पेच के तौर पर साझे शत्रु के विरुद्ध शासक वर्ग के किसी अलग ब्लॉक से रणकौशलात्मक मोर्चा तभी बना सकता है, जब कि उस ब्लॉक की माँगें सीधे सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ न जाती हों, जो कि अपवादस्वरूप स्थितियों में ही होता है।

मौजूदा सूरत में ऐसा नहीं है। धनी किसान व कुलक वर्ग की माँगें न सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाती हैं, बल्कि वे सीधे-सीधे सर्वहारा वर्ग और आम ग़रीब किसान आबादी के हितों पर सक्रियता से चोट कर रही हैं।

इसके अलावा, धनी किसानों व कुलकों का यह वर्ग कितनी फ़ासीवाद-विरोधी सम्भावनासम्पन्नता और विश्वसनीयता रखता है, यह विशेष तौर पर हम पिछले एक दशक में देख चुके हैं। नवउदारवाद के दौर में क्लासिकीय कुलक राजनीति के विघटन और प्रस्थान के साथ इस ख़ाली जगह को संघ परिवार व भाजपा की फ़ासीवादी राजनीति व अन्य प्रकार की दक्षिणपन्थी व धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति ने तेज़ी से भरा है। विशेष तौर पर, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में इस परिघटना को देखा जा सकता है। यह वर्ग अपनी प्रकृति से ही फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चे का संश्रयकारी नहीं बनता, बल्कि उल्टे फ़ासीवाद का सामाजिक आधार बनने की सम्भावना-सम्पन्नता रखता हैं और कुछ निश्चित स्थितियों में विशेष तौर पर उत्तर भारत में बना भी है। तात्कालिक तौर पर, किसी आर्थिक मुद्दे या किसी विशिष्ट माँग पर इसका फ़ासीवादी सरकार के साथ अन्तरविरोध हो सकता है, जो कि काफ़ी तीखा भी हो सकता है। लेकिन यह वर्ग मुख्यत: और मूलत: किसी फ़ासीवाद-विरोधी सम्भावनासम्पन्नता से रिक्त है और मौक़ा पड़ने पर फ़ासीवादियों के साथ या अन्य प्रकार की धार्मिक कट्टरपन्थी या दक्षिणपन्थी राजनीति के साथ खड़ा हो सकता है और हालिया दौर में होता भी रहा है।

इसके अलावा, गाँवों में यह वर्ग दलित खेतिहर मज़दूर आबादी का प्रमुख उत्पीड़क व शोषक सिद्ध हुआ है। दरअसल, कुलकों व धनी किसानों का यह वर्ग समूची खेत मज़दूर आबादी का प्रमुख उत्पीड़क व शोषक सिद्ध हुआ है। इसकी वजह स्पष्ट है। यह खेतिहर पूँजीपति वर्ग अपने अधिशेष विनियोजन व मुनाफ़े के लिए मुख्य तौर पर इसी खेत मज़दूर आबादी के श्रमशक्ति के दोहन पर निर्भर है। ऐसी सूरत में अक्सर ही यह होता है कि प्रमुख शोषक वर्ग अपने द्वारा शोषित मेहनतकश जनता की सामाजिक रूप से अरक्षित स्थिति का इस्तेमाल भी करते हैं, ताकि उनका सामाजिक उत्पीड़न व दमन भी किया जा सके, क्योंकि यह सामाजिक उत्पीड़न और दमन इन शोषित वर्गों को आर्थिक तौर पर और भी अरक्षित बना देता है। अभी कुछ ही दिनों पहले पंजाब और हरियाणा में प्रवासी मज़दूरों की कमी के कारण इन प्रदेशों के दलित खेतिहर मज़दूरों के साथ इन धनी किसानों व कुलकों ने क्या बर्ताव किया है, यह भी किसी से छिपा नहीं है।

इसके अलावा, पिछले दिनों में धनी किसानों और कुलकों के इस वर्ग के बीच धार्मिक कट्टरपन्थी दक्षिणपन्थी राजनीति और साथ ही साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति की बढ़ती जड़ों को भी सभी ने देखा है। यह इस वर्ग की आर्थिक स्थिति है जो इसे राजनीतिक प्रतिक्रिया की ज़मीन बनाती है।

आज यदि यह वर्ग लाभकारी मूल्य के मूल प्रश्न पर सरकार के ख़िलाफ़ सड़कों पर है, जैसा कि वह पहले भी बीच-बीच में करता रहा है, तो इससे प्रगतिशील शक्तियों को बहुत आशान्वित होने की आवश्यकता नहीं है। हमेशा की तरह बड़ी इजारेदार पूँजी के हाथ को ऊपर रखने वाला कोई नया समझौता, कोई नया क़रार शासक वर्ग के इन दो धड़ों के भीतर कालान्तर में हो ही जायेगा, यह आन्दोलन किसी क्रान्तिकारी उभार की तरफ़ नहीं जाने वाला है! ऐसी उम्मीद रखने वालों के बीच दरअसल यह उम्मीद एक नाउम्मीदी से पैदा हुई है।

अन्त में निचोड़ के रूप में यही कहा जा सकता है कि ग़रीब, निम्न मध्यम और मध्यम किसानों की बहुसंख्या की नियति पूँजीवादी व्यवस्था में तबाह होने की ही है। छोटे पैमाने के उत्पादन और इस समूचे वर्ग को बचाने का कोई भी वायदा या आश्वासन इन वर्गों को देना उनके साथ ग़द्दारी और विश्वासघात है और उन्हें राजनीतिक तौर पर धनी किसानों और कुलकों का पिछलग्गू बनाना है। तो फिर इनके बीच में हमें क्या करना चाहिए? *जैसा कि लेनिन ने कहा थाचस : एहाचि ानलोब! सच बोलना ही क्रान्तिकारी होता है।* हमें पूँजीवादी समाज में उन्हें उनकी इस अनिवार्य नियति के बारे में बताना चाहिए, उनकी सबसे अहम माँग यानी रोज़गार के हक़ की माँग के बारे में सचेत बनाना चाहिए और उन्हें बताना चाहिए कि उनका भविष्य समाजवादी खेती, यानी सहकारी, सामूहिक या राजकीय फार्मों की खेती की व्यवस्था में ही है। केवल ऐसी व्यवस्था ही उन्हें ग़रीबी, भुखमरी, असुरक्षा और अनिश्चितता से स्थायी तौर पर मुक्ति दिला सकती है। **दूरगामी तौर पर, समाजवादी क्रान्ति ही हमारा लक्ष्य है। तात्कालिक तौर पर, रोज़गार गारण्टी की लड़ाई और खेत मज़दूरों के लिए सभी श्रम क़ानूनों की लड़ाई, और सभी कर्जों से मुक्ति की लड़ाई ही हमारी लड़ाई हो सकती है।** केवल ऐसा कार्यक्रम ही गाँवों में वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाएगा और ग्रामीण सर्वहारा वर्ग और अर्द्धसर्वहारा वर्ग को एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में संगठित करेगा और समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार करेगा।

शिक्षा जगत

‘नयी शिक्षा नीति 2020’: लफ़्फ़ाज़ियों की आड़ में शिक्षा को आमजन से दूर करने की परियोजना

इन्द्रजीत

छात्रों-युवाओं और बुद्धिजीवियों के तमाम विरोध को दरकिनार करते हुए दिनांक 29 जुलाई के दिन ‘नयी शिक्षा नीति 2020’को मोदी सरकार के कैबिनेट ने मंज़ूरी दे दी है। यह शिक्षा नीति शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी निवेश को घटायेगी और बड़ी पूँजी के लिए शिक्षा के दरवाज़े खोलेगी। व्यापक मेहनतकश जनता के बेटे-बेटियों के लिए शिक्षा प्राप्त करने के रास्ते और भी सँकरे हो जायेंगे। ‘नयी शिक्षा नीति’ के मोटे पोथे में शब्दजाल तो बहुत लम्बा-चौड़ा बुना गया है लेकिन जैसे ही आप इसकी अन्तर्वस्तु तक जायेंगे तो जानेंगे कि यह शब्दजाल केवल “जलते सत्य को टालने” भर के लिए बुना गया है।

प्रो. के. कस्तूरीरंगन के नेतृत्व में बनी कमेटी ने नयी शिक्षा नीति का प्रारूप (ड्राफ़्ट) सरकार को 31 मई 2019 को सौंप दिया था। यह ड्राफ़्ट अंग्रेज़ी में 484 और हिन्दी में 648 पेज का था। इसी के आधार पर मानव संसाधन विकास मंत्रालय (MHRD) ने 55 पेज का प्रारूप (ड्राफ़्ट) कैबिनेट में भेज दिया था। कैबिनेट इसे पारित करके संसद के दोनों सदनों में पेश करता और फिर बहस-मुबाहिसे के बाद ये ड्राफ़्ट देश में नयी शिक्षा नीति के रूप में लागू होता। किन्तु अब केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री प्रकाश जावड़ेकर और केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री रमेश पोखरियाल निशंक के बयानों से लगता है कि ‘घर की बही, काका लिखणिया’ के दौरे-दौरा में संसद में पेश किये बिना ही इसे क़ानून बना दिया जायेगा। नयी शिक्षा नीति अगले 20-30 सालों तक शिक्षा के स्वरूप और ढाँचे को निर्धारित करेगी।

भारत में पहली शिक्षा नीति 1968 में आयी थी। आज़ादी के बाद से लेकर 1968 तक शिक्षा की दिशा टाटा-बिड़ला प्लान से निर्देशित थी। इसके बाद दूसरी शिक्षा नीति 1986 में आयी जिसे 1992 में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के मद्देनज़र संशोधित किया गया। तभी से शिक्षा के क्षेत्र में निजी पूँजी की घुसपैठ की परियोजना को अंजाम दिया गया तथा शिक्षा भी मुनाफ़ा कमाने का एक साधन बन गयी। अब सरकार तीसरी शिक्षा नीति को लेकर आन खड़ी हुई है।

‘नयी शिक्षा नीति 2020’ बातें तो बड़ी-बड़ी कर रही है किन्तु इसकी बातों और इसमें सुझाये गये प्रावधानों में तमाम विरोधाभास हैं। यह नीति शिक्षा के स्तर और गुणवत्ता को उन्नत करने की बात कहती है किन्तु दूसरी तरफ़ दूसरी कक्षा तक की पढ़ाई के लिए सरकार की ज़िम्मेदारी को ख़त्म करने की बात कहती है। शिक्षा नीति का मूल प्रारूप देश में स्कूली स्तर पर 10 लाख अध्यापकों की कमी को तो स्वीकार करता है परन्तु इन पदों की भर्ती की कोई ठोस योजना पेश नहीं करता। यह शिक्षा नीति फ़ाउण्डेशनल स्टेज यानी पहले 5 साल की पढ़ाई (3+2) में अध्यापक की कोई ज़रूरत महसूस नहीं करती। इस काम को एनजीओ कर्मी, आँगनवाड़ी कर्मी और अन्य स्वयंसेवक अंजाम देंगे। वैसे भी यह नीति तथाकथित ढाँचागत समायोजन की बात करती है जिसका मतलब है – कम संसाधनों में ज़्यादा करो, यानी सरकार का अपनी ज़िम्मेदारियों से पल्ला झाड़ने का प्रयास!

‘नयी शिक्षा नीति’ का दस्तावेज़ ख़ुद स्वीकार करता है कि देश में अब भी 25% यानी 30 करोड़ से ऊपर लोग अनपढ़ हैं फ़िर भी नयी शिक्षा नीति में शिक्षा की सार्वभौमिकता का पहलू छोड़ दिया गया है। यानी शिक्षा की पहुँच को आख़िरी आदमी तक ले जाने की कोई ज़रूरत नहीं! वैसे तो यह ड्राफ़्ट 2030 तक 100% साक्षरता के लक्ष्य को पाने की बात करता है परन्तु दूसरी तरफ़ कहता है कि जहाँ 50 से कम बच्चे हों वहाँ स्कूल को बन्द कर देना चाहिए। आज स्कूलों को बढ़ाने की जरूरत है किन्तु यह नीति ठीक इसके उलट उपाय सुझा रही है। पुरानी शिक्षा नीति कहती थी कि स्कूल पहुँच के हिसाब से होना चाहिए ना कि बच्चों की संख्या के हिसाब से।

नयी शिक्षा नीति का मूल ड्राफ़्ट शिक्षा पर जीडीपी का 6% और केन्द्रीय बजट का 10% ख़र्च करने की बात करता है किन्तु साथ में वह यह भी कहता है कि यदि कर (टैक्स) कम इकट्ठा हो तो इतना ख़र्च नहीं भी किया जा सकता। यह ड्राफ़्ट शिक्षा के अधिकार के तहत 3-18 साल तक के बच्चे को निःशुल्क शिक्षा देने की बात करता है। किन्तु आयु सीमा 18 साल तक नहीं होनी चाहिए बल्कि सरकार को नर्सरी से पीएचडी तक की शिक्षा निःशुल्क और एकसमान उपलब्ध करानी चाहिए।

नयी शिक्षा नीति के मूल ड्राफ़्ट में यह भी सुझाव दिया गया है कि छठी कक्षा से बच्चों को छोटे-मोटे काम-धन्धे भी सिखाये जायेंगे। आज हमारे देश के उद्योगों में उत्पादन क्षमता का सिर्फ़ 73% ही पैदा किया जा रहा है (यह आँकड़ा कोरोना पूर्व का है)।

पूँजीपति आपसी प्रतिस्पर्द्धा में सस्ते श्रमिकों की आपूर्ति के लिए वोकेशनल सेण्टरों, आईटीआई, पॉलिटेक्निक इत्यादि का रुख कर रहे हैं ताकि इन्हें सस्ते मज़दूर मिल सकें और शिक्षा पर ख़र्च भी कम करना पड़े। यह क़दम इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर नयी शिक्षा नीति में शामिल किया गया है। कुल मिलाकर नयी शिक्षा नीति का प्रारूप जनता के समान और निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार को तिलांजलि देने के समान है।

नयी शिक्षा नीति 2020 लागू होने के बाद उच्च शिक्षा के हालात तो और भी बुरे होने वाले हैं। पहले से ही लागू सेमेस्टर सिस्टम, एफ़वाईयूपी, सीबीडीएस, यूजीसी की जगह एचईसीआई इत्यादि स्कीमें भारत की शिक्षा व्यवस्था को अमेरिकी पद्धति के अनुसार ढालने के प्रयास थे। अब विदेशी शिक्षा माफ़िया देश में निवेश करके अपने कैम्पस खड़े कर सकेंगे और पहले से ही अनुकूल शिक्षा ढाँचे को सीधे तौर पर निगल सकेंगे। शिक्षा के मूलभूत ढाँचे की तो बात ही क्या करें यहाँ तो शिक्षकों का ही टोटा है। केन्द्रीय और राज्य विश्वविद्यालयों में क़रीब 70 हजार प्रोफ़ेसरों के पद ख़ाली हैं।

उच्च शिक्षा को सुधारने के लिए हायर एजुकेशन फ़ाइनेंशियल एजेन्सी (HEFA) बनी हुई है उसका बजट विगत साल 650 करोड़ घटाकर 2,100 करोड़ कर दिया है। उससे पिछले वर्ष इसका बजट 2,750 करोड़ था किन्तु हैरानी की बात तो यह है कि ख़र्च सिर्फ़ 250 करोड़ ही किया गया था। दरअसल हेफ़ा अब विश्वविद्यालयों को अनुदान की बजाय क़र्ज़ देगी जो उन्हें वापस 10 वर्ष के अन्दर चुकाना होगा। सरकार लगातार उच्च शिक्षा बजट को कम कर रही है। लगातार कोर्सों को स्व-वित्तपोषित बनाया जा रहा है। विश्वविद्यालयों को स्वायत्ता दी जा रही है जिसका मतलब है सरकार विश्वविद्यालय को कोई फण्ड जारी नही करेगी। सरकार की मानें तो विश्वविद्यालय को अपना फण्ड, फीसें बढ़ाकर या किसी भी अन्य तरीके से जिसका बोझ अन्ततः विद्यार्थियों पर ही पड़ेगा, करना होगा। इसके पीछे सरकार ख़ज़ाना ख़ाली होने की बात करती है किन्तु कैग की रिपोर्ट के अनुसार 2007 से अब तक प्राप्त कुल शिक्षा सेस में से 2 लाख 18 हज़ार करोड़ रुपये की राशि सरकार ने ख़र्च ही नहीं की है। क्या ये पैसा पूँजीपतियों को बेल आउट पैकेज देने पर ख़र्च किया जायेगा? एक तरफ़ सरकार ढोंग करती है कि बजट का 10 प्रतिशत और सकल घरेलू उत्पाद का छह प्रतिशत शिक्षा पर खर्च होना चाहिए दूसरी और 10 और 6 प्रतिशत तो छोड़ ही दीजिए जो थोड़ी बहुत राशि शिक्षा बजट के तौर पर आबण्टित होती है सरकार उसमें से भी डण्डी मारने की फ़िराक में रहती है।

अब नयी शिक्षा नीति के तहत उच्च शिक्षा से जुड़े एमए, एमफ़िल, तकनीकी कोर्सों और पीएचडी के कोर्सों को भी मनमाने ढंग से पुनर्निर्धारित किया गया है। एमफ़िल के कोर्स को समाप्त ही कर दिया गया है। इससे सीधे-सीधे उच्च शिक्षा की गुणवत्ता के साथ खिलवाड़ होगी। नयी शिक्षा नीति में मल्टीएन्ट्री और एग्जिट का प्रावधान किया गया है यदि कोई छात्र बीटेक किसी कारणवश पूरा नहीं कर पाया तो उसे एक साल के बाद सर्टिफ़िकेट, दो साल करके छोड़ने पर डिप्लोमा तो तीन साल के बाद डिग्री दी जा सकेगी। मतलब नयी शिक्षा नीति यह मानकर चल रही है कि छात्र अपना कोर्स पूरा नहीं कर पायेंगे। सरकार को ऐसे तमाम कारणों के समाधान ढूँढ़ने चाहिए थे ताकि किसी छात्र को अपनी पढ़ाई बीच में ना छोड़नी पड़े। इससे तकनीकी कोर्सों की शिक्षा की गुणवत्ता पर भी नकारात्मक प्रभाव ही पड़ेगा। पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षा में भी बदलाव किये गये हैं। यदि किसी छात्र को शोध कार्य करना है तो उसे 4 साल की डिग्री और एक साल की एमए करनी होगी, उसके बाद उसे बिना एमफ़िल किये पीएचडी में दाख़िला दे दिया जायेगा। अगर किसी को नौकरी करनी है तो उसे तीनसाल की डिग्री करनी होगी। एमए करने का समय एक साल कम कर दिया गया है और एमफ़िल को बिल्कुल ही ख़त्म कर दिया गया है, इससे शिक्षा की गुणवत्ता के स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। देश के ज़्यादातर विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में प्रैक्टिकल काम ना के बराबर होते हैं। जिसके चलते हमारे देश में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता लगातार गिरती जा रही है। इस कमी को दूर करने के लिए नयी शिक्षा नीति में कोई क़दम नहीं उठाया गया है। मानविकी विषय तो पहले ही मृत्युशैया पर पड़े हैं, अब इनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करना और भी मुश्किल हो जायेगा। उच्च शिक्षा पर पहले से जारी हमलों को उच्च शिक्षा नीति और भी द्रुत गति प्रदान करेगी। बड़ी पूँजी के निवेश के साथ ही केन्द्रीयकरण बढ़ेगा और फ़ीसों में बेतहाशा वृद्धि होगी।

कुल मिलाकर 'नयी शिक्षा नीति 2020' जनता के हक़ के प्रति नहीं बल्कि बड़ी पूँजी के प्रति समर्पित है। शिक्षा की नयी नीति हरेक स्तर की शिक्षा पर नकारात्मक असर डालेगी। यह समय देश के छात्रों-युवाओं और बौद्धिक तबक़े के लिए शिक्षा के अधिकार को हासिल करने हेतु नये सिरे से जनान्दोलन खड़े करने के लिए कमर कस लेने का समय है।

केवल उन किताबों को प्यार करो जो ज्ञान का स्रोत हों, क्योंकि सिर्फ़ ज्ञान ही वन्दनीय होता है; ज्ञान ही तुम्हें आत्मिक रूप से मज़बूत, ईमानदार और बुद्धिमान, मनुष्य से सच्चा प्रेम करने लायक, मानवीय श्रम के प्रति आदरभाव सिखाने वाला और मनुष्य के अथक एवं कठोर परिश्रम से बनी भव्य कृतियों को सराहने लायक़ बना सकता है।

– मक्सिम गोर्की

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020
शिक्षा पर कॉरपोरेट पूँजी के शिकंजे को क़ानूनी जामा पहनाने की कवायद

अविनाश

जिस समाज ने प्रतिभाओं को जीते-जी दफ़नाना कर्तव्य समझा है और गदहों के सामने अंगूर बिखेरने में जिसे आनन्द आता है, क्या ऐसे समाज के अस्तित्व को हमें पल भर भी बर्दाश्त करना चाहिए? — राहुल सांकृत्यायन

भाजपा सरकार द्वारा मेहनतकश जनता पर हमले का दौर बदस्तूर जारी है। बेशर्मी के साथ आपदा को अवसर बनाने की बात कहने वाली भाजपा सरकार और आरएसएस कोरोना आपदा के समय श्रम क़ानूनों को रद्द करने से लेकर निजीकरण की रफ़्तार तेज़ करने तक, राजनीतिक विरोधियों पर यूएपीए लगाने से लेकर दंगा भड़काने तक, आदि के लिए अवसर के रूप मे इस्तेमाल कर रही है। इसी कड़ी में 29 जुलाई को मोदी सरकार की कैबिनेट ने छात्रों-युवाओं और बुद्धिजीवियों के तमाम विरोध को दरकिनार करते हुए 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020' को मंज़ूरी देकर मेहनतकश अवाम पर एक बार फिर हमला बोला है। सरकारी बुद्धिजीवी और मीडिया इसे "क्रान्तिकारी" क़दम बता रहे हैं। बाज़ार के नये तर्कों से लैस छात्रों-नौजवानों की एक आबादी भी इस भ्रम की शिकार है। असल में यह "जनकल्याणकारी" और "क्रान्तिकारी" शब्दावली की चाशनी में लपेटकर परोसी गयी धुर-प्रतिक्रियावादी फ़ासिस्ट एजेण्डे को अमली जामा पहनाने वाली जन-विरोधी नीतियों का दस्तावेज़ है। यह शिक्षा नीति कुल मिलाकर शिक्षा के क्षेत्र से सरकार को मुक्त करके शिक्षा को देशी-विदेशी पूँजी के लिए लूट के अड्डे में तब्दील करने की जो कोशिश सालों से चलती आयी है, उसको चरितार्थ करती है।

शिक्षा को बाज़ार के हाथों में सौंपना कोई अचानक हुई घटना नहीं है। इसकी पूर्वपीठिका काफ़ी पहले से लिखी जा रही है। 1990-91 में वित्तमंत्री मनमोहन सिंह के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार ने निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को लागू कर देश के सारे पब्लिक सेक्टरों का दरवाजा निजी पूँजी के लिए खोल दिया जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा भी बाज़ार में ख़रीदने-बेचने वाले माल में तब्दील हो गयी। कॉरपोरेट घरानों के लिए शिक्षा के क्षेत्र में पूँजी निवेश करने और मुनाफ़ा कमाने के रास्ते खोल दिये गये। आज अज़ीम प्रेमजी, गोयनका और अब मुकेश अम्बानी जैसे बड़े कॉरपोरेट भी शिक्षा के क्षेत्र में पूँजी निवेश कर रहे हैं। शिक्षा के बाज़ारीकरण की प्रक्रिया 1986 के राजीव गाँधी सरकार द्वारा पेश की गयी नयी शिक्षा नीति के साथ ही शुरू हो गयी थी, लेकिन 1990 में भारत सरकार ने वर्ल्ड बैंक द्वारा आयोजित 'जोमतिएन कान्फ्रेंस' में भागीदारी के बाद इसे और तेज़ी से लागू करने का काम किया। पिछले तीन दशकों में पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप के तहत शिक्षा को पूरी तरह से तबाह और बर्बाद करके इसे निजी स्कूलों-विश्वविद्यालयों और बड़े-बड़े फ्रेन्चाइजीयों के हाथ में दे दिया गया है। शिक्षा में पीपीपी (पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप) मॉडल लागू करने का प्रस्ताव भाजपा के 1998 के चुनावी घोषणापत्र में था।

वैसे तो 14 साल तक के बच्चों के लिए मुफ़्त शिक्षा संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों में शामिल है। लेकिन नीति-निर्देशक तत्वों की दूसरी लफ़्फ़ाज़ियों की तरह इसका भी कोई मतलब नहीं है। 2002 मे भाजपा सरकार ने संविधान में 86वाँ संशोधन कर एक नया अनुच्छेद 21(A) जोड़ा था जिसके तहत 6 साल से कम उम्र के बच्चों को सुरक्षित बचपन, पोषण, स्वास्थ्य आदि की कोई गारण्टी नहीं दी गयी थी। 6-14 साल के बच्चों के लिए समान और निःशुल्क शिक्षा का रूप क्या होगा, यह तय करने का अधिकार सरकार के हाथों मे सिमट गया। मज़ेदार बात यह है कि मौलिक अधिकार का हनन होने पर कोई भी नागरिक अदालत जा सकता है लेकिन 'शिक्षा के अधिकार' में जब निजी स्कूलों कि बात आती हैं तब किसी नागरिक को अदालत जाने से पहले अधिकृत सरकारी अधिकारी से अनुमति लेनी पड़ती है। इतना ही नहीं यदि किसी अधिकारी द्वारा किसी प्रावधान का उल्लंघन "सदिच्छा" या "अच्छी मंशा" के बावजूद हो गया हो तो उसके ख़िलाफ़ कोई मुक़दमा नहीं होगा। जिस समाज में शिक्षा को भी मुनाफ़ा कमाने के सेक्टर के रूप में देखा जाता हो, उसमें इसका अधिकार आम जनमानस के लिए ख़यालाी पुलाव ही साबित होता है।

नयी शिक्षा नीति-2020 और प्राथमिक शिक्षा

भारतीय जनता पार्टी ने 2014 के लोकसभा चुनाव के दौरान अपने चुनावी घोषणापत्र (जुमला पत्र पढ़ें) में नेल्सन मण्डेला की पंक्ति "एक समाज की आत्मा इससे ज़्यादा और किसी बात से परिलक्षित नहीं होती कि वह अपने बच्चों का किस तरह ख़्याल रखता है" को शामिल करते हुए बच्चों को देश का भविष्य

बताया था। सभी अन्य वादों की तरह शिक्षा को लेकर किया गया वादा भी मूर्तरूप में जनता को धोखा देने वाला जुमला ही साबित हुआ है। अब नयी शिक्षा नीति-2020 के जरिये भाजपा देश के भविष्य को अँधेरे में धकेल रही है।

नयी शिक्षा नीति-2020 भेदभावपूर्ण दोहरी शिक्षा प्रणाली को ख़त्म कर न्याय और समानता पर आधारित शिक्षा व्यवस्था लागू करने के नाम पर न सिर्फ़ महँगे निजी स्कूलों के शोषणकारी जाल को बनाये रखता है बल्कि उसे और ज्यादा मजबूत बनाता है। शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य और निःशुल्क करने की जगह पीपीपी मॉडल के तहत इसे भी मुनाफ़े के मातहत कर दिया गया है। शिक्षा नीति बात तो बड़ी-बड़ी कर रही है किन्तु इसकी बातों और इसमें सुझाये गये प्रावधानों में विरोधाभास है। यह नीति शिक्षा के स्तर और गुणवत्ता को उन्नत करने की बात कहती है किन्तु दूसरी तरफ़ दूसरी कक्षा तक की पढ़ाई के लिए सरकार की ज़िम्मेदारी को ख़त्म करने की बात कहती है। यह शिक्षा में ग़ैर-बराबरी के आँकड़े पेश करता है कि पहली कक्षा से 12वीं में आते-आते दलितों का प्रतिनिधित्व 17% से घटकर 10% और मुस्लिमों का प्रतिनिधित्व 15% से घटकर 7% रह जाता है, लेकिन जिन नीतियों से यह ग़ैर-बराबरी पैदा हुई है उसको और मज़बूत करने की कोशिश करता है। इस नीति का दस्तावेज़ बदहाल सरकारी शिक्षा का रोना रोता है लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में प्राइवेट स्कूलों द्वारा चल रही भयानक लूट को ख़त्म कर सबके लिए एकसमान व निःशुल्क सरकारी शिक्षा व्यवस्था लागू करने की जगह यह प्रस्ताव देता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कम्प्यूटर, प्रयोगशाला, पुस्तकालय आदि सुविधाओं से लैस 12वीं तक का एक बड़ा हायर सेकेण्डरी स्कूल काम्प्लेक्स, ब्लॉक, तहसील या ज़िला मुख्यालयों पर खोला जाये। आस-पास के अन्य स्कूलों को आपस में प्रशासनिक तंत्र के ज़रिये इस कॉम्प्लेक्स से जोड़ा जायेगा। लेकिन यह ड्राफ़्ट यह नहीं बताता कि उन कॉम्प्लेक्सों तक दूर-दराज़ के छात्र पहुँचेंगें कैसे? इससे निजी स्कूलों में जो बच्चे पढ़ रहे हैं वो वापस कैसे आयेंगे? यह शिक्षा नीति का मूल प्रारूप देश में स्कूली स्तर पर 10 लाख अध्यापकों की कमी को तो स्वीकार करता है परन्तु इन पदों की भर्ती की कोई ठोस योजना पेश नहीं करता।

'नयी शिक्षा नीति' का दस्तावेज़ ख़ुद स्वीकार करता है कि देश में अब भी 25% यानी 30 करोड़ से ऊपर लोग अनपढ़ हैं फ़िर भी नयी शिक्षा नीति में शिक्षा की सार्वभौमिकता का पहलू छोड़ दिया गया है। यानी शिक्षा की पहुँच को आख़िरी आदमी तक ले जाने की कोई ज़रूरत नहीं! वैसे तो यह ड्राफ़्ट 2030 तक 100% साक्षरता के लक्ष्य को पाने की बात करता है परन्तु दूसरी तरफ़ यह नीति 50 से कम छात्रों वाले सरकारी स्कूलों का विलय करने या बन्द करने की भी सिफ़ारिश करता है। इस सिफ़ारिश को मोदी सरकार के पहले कार्यकाल में मोदी की अध्यक्षता में नीति आयोग द्वारा 80% सरकारी स्कूल बन्द करने के फ़ैसले से जोड़कर देखना चाहिए। आज स्कूलों को बढ़ाने की ज़रूरत है किन्तु यह नीति ठीक इसके उलट उपाय सुझा रही है। पुरानी शिक्षा नीति कहती थी कि स्कूल पहुँच के हिसाब से होना चाहिए न कि बच्चों की संख्या के हिसाब से।

नयी शिक्षा नीति के तहत मौजूदा 10+2 के ढाँचे को खत्म कर 5+3+3+4 लागू किया जायेगा। 3-6 साल के बच्चों को 'अर्ली चाइल्डहुड केयर एण्ड एजुकेशन' दी जायेगी जिसकी ज़िम्मेदारी आँगनबाड़ी केन्द्रों की रहेगी और जिसके लिए बड़ी संख्या में स्वयंसेवकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और एनजीओ की मदद ली जायेगी। ज़ाहिर है कि इतनी बड़ी संख्या में लोग अभी सिर्फ़ आरएसएस के पास हैं और इस प्रकार इस नीति के ज़रिये आरएसएस को अपने ज़हरीले प्रयोग के लिए नन्हें मस्तिष्क की पूरी नर्सरी ही सौंपी जा रही है इसीलिए यह मसौदा 3 से 6 वर्ष के बच्चों की पूर्व प्राथमिक शिक्षा पर इतना ज़ोर दे रहा है। इस शिक्षा नीति मे कक्षा 6 से ही बच्चों को 'वोकेशनल ट्रेनिंग' के नाम पर छोटे-मोटे काम (जैसे गार्डेनिंग, वैल्डिंग, प्लम्बरिंग आदि) की ट्रेनिंग भी दी जायेगी। पूँजीवाद अपने ढाँचागत संकट में बुरी तरह से उलझ चुका है, जिसकी वजह से कोरोना संकट से पहले ही देश के उद्योगों में उत्पादन क्षमता का सिर्फ़ 73% ही पैदा किया जा रहा है। मुनाफ़े की गिरती दर को पाटने के लिए पूँजीपति सस्ते श्रम की तलाश में वोकेशनल सेण्टरों, आईटीआई, पॉलिटेक्निक इत्यादि का रुख कर रहे हैं ताकि इन्हें सस्ते मज़दूर मिल सकें और शिक्षा पर ख़र्च भी कम करना पड़े। यह क़दम इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर नयी शिक्षा नीति में शामिल किया गया है।

मतलब साफ़ है कि यह शिक्षा नीति पहले से तबाह प्राथमिक शिक्षा को पूरी तरह से निजी पूँजी के मातहत ला खड़ा कर देगी। समान और निःशुल्क शिक्षा की बात किताबी बात बन गयी है। तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि 3-6 साल के बच्चों पर आरएसएस को फ़ासीवादी प्रयोग करने की खुली छूट होगी।

नयी शिक्षा नीति और उच्च शिक्षा की बात करें तो लोकतंत्र और जनवाद का ढिंढोरा पीटने वाली इस शिक्षा नीति में इस बात का कहीं ज़िक्र तक नहीं है कि विश्वविद्यालयों में छात्रों का प्रतिनिधित्व करने वाला छात्रसंघ होगा या नहीं। छात्रों का प्रशासन और अध्यापकों के साथ सम्बन्ध कैसा होगा इसकी कोई चर्चा नहीं की गयी है। बल्कि बोर्ड ऑफ़ गवर्नर्स (बीओजी) का एक नया तंत्र सुझाया गया है जो विश्वविद्यालय समुदाय के प्रति किसी भी रूप में जवाबदेह नहीं होगा। ज़रूरी नहीं है कि बोर्ड के ये 'मानिन्द' लोग शिक्षा से जुड़े लोग ही हों। बीओजी के पास फ़ीस पर फैसला करने, उच्च शिक्षा संस्थान (एचईआई) के प्रमुख सहित नियुक्तियाँ करने और शासन के बारे में निर्णय लेने का अधिकार होगा। शासन का यह मॉडल स्वायत्तता और अकादमिक उत्कृष्टता को केन्द्रीकृत और नष्ट कर देगा। इस तरह यह दस्तावेज़ कैम्पसों के बचे-खुचे जनवादी स्पेस का भी गला घोंट देता है। यह शिक्षा नीति शिक्षण-संस्थानों को शैक्षिक-

प्रशासनिक और वित्तीय स्वायत्तता देने की बात करता है। लेकिन दूसरी तरफ़ प्रशासनिक केन्द्रीकरण का पुरज़ोर समर्थन भी करता है। विश्वविद्यालयों में राष्ट्रीय शिक्षा आयोग गठित किया जायेगा, जिसकी अध्यक्षता शिक्षा मंत्री करेंगे, और राज्य सरकारों के संस्थानों पर भी केन्द्र का नियंत्रण होगा। आयोग के सदस्यों का चयन भी प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली एक कमेटी करेगी। यानी पूरे देश में केजी से लेकर पीजी तक – पूरी शिक्षा व्यवस्था पर अकेले प्रधानमंत्री का हुक्म चलेगा। नयी शिक्षा नीति 2020 लागू होने के बाद उच्च शिक्षा के हालात और भी बुरे होने वाले हैं। पहले से ही लागू सेमेस्टर सिस्टम, एफ़वाईयूपी, सीबीडीएस, यूजीसी की जगह एचईसीआई इत्यादि स्कीमें भारत की शिक्षा व्यवस्था को अमेरिकी पद्धति के अनुसार ढालने के प्रयास थे। अब विदेशी शिक्षा माफ़िया देश में निवेश करके अपने कैम्पस खड़े कर सकेंगे और पहले से ही अनुकूल शिक्षा के ढाँचे को सीधे तौर पर निगल सकेंगे। शिक्षा के मूलभूत ढाँचे की तो बात ही क्या करें, यहाँ तो शिक्षकों का ही टोटा है। केन्द्रीय और राज्य विश्वविद्यालयों में क़रीबन 70 हजार प्रोफ़ेसरों के पद ख़ाली हैं।

अब नयी शिक्षा नीति के तहत उच्च शिक्षा से जुड़े एमए, एमफ़िल, तकनीकी कोर्सों और पीएचडी के कोर्सों को भी मनमाने ढंग से पुनर्निर्धारित किया गया है। एमफ़िल के कोर्स को ही समाप्त कर दिया गया है। इससे सीधे-सीधे उच्च शिक्षा की गुणवत्ता के साथ खिलवाड़ होगा। नयी शिक्षा नीति में मल्टीएण्ट्री और एग्ज़िट का प्रावधान किया गया है यदि कोई छात्र बीटेक किसी कारणवश पूरा नहीं कर पाया तो उसे एक साल के बाद सर्टिफ़िकेट, दो साल करके छोड़ने पर डिप्लोमा तो तीन साल के बाद डिग्री दी जा सकेगी। मतलब नयी शिक्षा नीति यह मानकर चल रही है कि छात्र अपना कोर्स पूरा नहीं कर पायेंगे। सरकार को ऐसे तमाम कारणों के समाधान ढूँढ़ने चाहिए थे ताकि किसी छात्र को अपनी पढ़ाई बीच में ना छोड़नी पड़े। इससे तकनीकी कोर्सों की शिक्षा की गुणवत्ता पर भी नकारात्मक प्रभाव ही पड़ेगा। पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षा में भी बदलाव किये गये हैं। यदि किसी छात्र को शोधकार्य करना है तो उसे चार साल की डिग्री और एक साल का एमए करना होगा, उसके बाद उसे बिना एमफ़िल किये पीएचडी में दाखिला दे दिया जायेगा। अगर किसी को नौकरी करनी है तो उसे तीन साल का डिग्री कोर्स करना होगा। एमए करने का समय एक साल कम कर दिया गया है और एमफ़िल को बिल्कुल ही ख़त्म कर दिया गया है, इससे शिक्षा की गुणवत्ता के स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। देश के ज़्यादातर विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में प्रैक्टिकल काम न के बराबर होते हैं जिसके चलते हमारे देश में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता लगातार गिरती जा रही है। इस कमी को दूर करने के लिए नयी शिक्षा नीति में कोई क़दम नहीं उठाया गया है। मानविकी विषय तो पहले ही मृत्युशैया पर पड़े हैं अब इनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करना और भी मुश्किल हो जायेगा। उच्च शिक्षा पर पहले से जारी हमलों को उच्च शिक्षा नीति और भी द्रुत गति प्रदान करेगी। बड़ी पूँजी के निवेश के साथ ही केन्द्रीकरण बढ़ेगा और फ़ीसों में बेतहाशा वृद्धि होगी। यह शिक्षा नीति देश के शीर्ष 100 विश्वविद्यालयों में ऑनलाइन दूरस्थ शिक्षा प्रदान करने कि बात कर रही है। यह नीति दूरस्थ शिक्षा के मूल्यांकन, नियोजन, प्रशासन (स्कूल और उच्च शिक्षा दोनों के लिए) के लिए एक स्वायत्त निकाय, नेशनल एजुकेशनल टेक्नोलॉजी फ़ोरम (एनइटीएफ़) बनाने की बात करती है। नीति एनइटीएफ की फण्डिंग के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं करती जिसका सीधा अभिप्राय यह है कि इसका भार विद्यार्थियों पर थोप दिया जायेगा। स्पष्ट है की ऑनलाइन दूरस्थ शिक्षा लागू होने का सीधा मतलब है, दूर-दराज़ के गाँवों मे बसने वाले लाखों-लाख छात्र इण्टरनेट की अनुपलब्धता, गैजेट न होने कि वजह से सीधे शिक्षा से दूर हो जायेंगे। दूसरे जब छात्र विश्वविद्यालयों में रहेंगे ही नहीं तो सरकार के जन-विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ एकजुट आवाज़ भी नहीं उठा सकेंगे। कुल मिलाकर 'नयी शिक्षा नीति 2020' जनता के हक़ के प्रति नहीं बल्कि बड़ी पूँजी के प्रति समर्पित है। शिक्षा की नयी नीति हरेक स्तर की शिक्षा पर नकारात्मक असर डालेगी।

शिक्षा के लिए अनुदान

नयी शिक्षा नीति का मूल ड्राफ़्ट शिक्षा पर जीडीपी का 6% और केन्द्रीय बजट का 10% ख़र्च करने की बात करता है, किन्तु साथ ही उसमें यह भी कहा गया है कि यदि कर (टैक्स) कम इकट्ठा हो तो इतना ख़र्च नहीं किया जा सकता। एक तरफ़ यह नीति शिक्षा को प्रशासनिक जकड़बन्दी में क़ैद करने पर तुली हुई है वहीं दूसरी तरफ वित्तीय स्वायत्तता का राग अलाप रही है। वित्त के लिए इस नीति ने विश्वविद्यालय को पूरी छूट दे रखी है कि पूँजीपतियों, बैंकों, देशी-विदेशी कॉरपोरेट घरानों आदि से पैसा माँग लें जिसका मूलधन विश्वविद्यालय को इकट्ठा करना होगा और ब्याज़ सरकार भर देगी। ज़ाहिर है कि जो पैसा देगा वह हमारे संस्थानों पर अपनी शर्तें भी थोपेगा। इन संस्थानों में कोर्स, किताबों व शिक्षकों की क़ाबिलियत और शिक्षकों के मापदण्ड के फ़ैसले भी यही पैसा देनेवाले करेंगे, चाहे वे विद्यार्थियों, समाज व देश के हित में हो या न हो। उच्च शिक्षा को सुधारने के लिए 'हायर एजुकेशन फ़ाइनेंसियल एजेंसी (HEFA)' बनी हुई है जिसका बजट विगत साल 650 करोड़ से घटाकर 2,100 करोड़ कर दिया है। उससे पिछले वर्ष इसका बजट 2,750 करोड़ था किन्तु हैरानी की बात तो यह है कि ख़र्च सिर्फ़ 250 करोड़ ही किया गया था। दरअसल हेफ़ा अब विश्वविद्यालयों को अनुदान की बजाय क़र्ज़ देगी जो उन्हें वापस 10 वर्ष के अन्दर चुकाना होगा। सरकार लगातार उच्च शिक्षा बजट को कम कर रही है। सरकार की मानें तो विश्वविद्यालय को अपना फ़ण्ड, फ़ीसें बढ़ाकर या किसी भी अन्य तरीक़े से जिसका बोझ अन्ततः विद्यार्थियों पर ही पड़ेगा, करना होगा। निजी विश्वविद्यालयों को

(पेज 33 पर जारी)

सामयिकी

फ़ासिस्टों ने किस तरह आपदा को अवसर में बदला!

अविनाश

लॉकडाउन के दौरान राष्ट्र के नाम सम्बोधन में मोदी ने "आपदा को अवसर" में बदलने का जुमला उछाला। हर जुमले की तरह इस जुमले की भी जाँच-पड़ताल की जाये तो पता चल जायेगा कि इस जुमले के तहत आपदा किसके लिए है और अवसर किसके लिए? या यह कि आपदा को अवसर में कौन बदल रहा है और किस तरह? किसी भी वर्ग विभाजित समाज में हर एक नारा किसी न किसी वर्ग के हितों को साधता है और इसलिए 'आपदा को अवसर' में बदलने का नारा भी इससे अछूता नहीं है। कुछ ही दिनों बाद 'इण्डियन चैम्बर ऑफ़ कॉमर्स' के एक विशेष कार्यक्रम को सम्बोधित करते हुए मोदी ने अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को और साफ़-साफ़ शब्दों में रख दिया और कहा कि 'पीपुल्स', 'प्लैनेट' और 'प्रॉफ़िट' एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। मतलब साफ़ है कि कोरोना आपदा का इस्तेमाल, पूँजीपतियों के लिए 'पीपुल्स' यानि मज़दूरों के शोषण की खुली छुट देने, 'प्लैनेट' यानी पर्यावरण के दोहन को रोकने के लिए रहे-सहे क़ानूनों को भी किनारे लगाने, और पूँजीपतियों के मुनाफ़े की गिरती हुई दर को रोकने के अवसर के रूप में किया जायेगा। इसकी बानगी श्रम क़ानूनों को किनारे लगाये जाने, निजीकरण की रफ़्तार को लॉकडाउन के दौरान और तेज़ किए जाने आदि के रूप में देखी जा सकती है।

हर फ़ासीवादी निज़ाम जनता पर आने वाली हर आपदा को अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को और अधिक विस्तार देने के अवसर के रूप में इस्तेमाल करता है। हिटलर और मुसोलिनी की ये भारतीय औलादें इस मामले में अपने बाप-दादाओं को भी काफ़ी पीछे छोड़ चुकी हैं। 2014 के बाद देश में सत्तासीन फ़ासीवादी ताकतें अपनी हर असफलता को बिकाऊ मीडिया के दलाल पत्रकारों और अपने आईटी सेल के भाड़े के टट्टुओं की मदद से आयोजन का रूप देकर एक तीर से कई निशाने साध रही हैं। एक तरफ़ तो इन आयोजनों से लोगों का ध्यान बदहाल अर्थव्यवस्था, भयावह बेरोज़गारी, जर्जर चिकित्सा तंत्र जैसे असली मुद्दों से भटकाया जा रहा है तो वही दूसरी तरफ इन फ़ासिस्ट आयोजनों से आरएसएस को अपने सामाजिक आधार को भी समय-समय पर परखने का मौक़ा मिल जाता है। कोरोना महामारी के संकटपूर्ण समय में जब पूँजीवादी व्यवस्था की नंगी सच्चाई खुल कर जनता के सामने आ गयी है, जब किसी भी सरकार की प्राथमिकता व्यापक पैमाने पर टेस्टिंग, क्वैरण्टाइन, ट्रीटमेण्ट, और कान्टैक्ट ट्रेसिंग की व्यवस्था कर जनता को इस संकट से निकालना होना चाहिए जैसा कि बहुत से पूँजीवादी देशों (न्यूज़ीलैण्ड, वियतनाम, दक्षिण कोरिया आदि। इन देशों का मॉडल कोई समाजवादी मॉडल नहीं था फिर भी ये देश व्यापक टेस्टिंग, क्वैरण्टाइन, ट्रीटमेण्ट और कान्टैक्ट ट्रेसिंग और साथ में पूर्ण या आंशिक लॉकडाउन कर काफ़ी हद तक इस संकट से लड़ने में सफल रहे) ने भी किया लेकिन भारत में फ़ासीवादी सरकार ने इस संकट को भी अपने फ़ासीवादी प्रयोग का हिस्सा बना लिया और थाली-ताली बजवाकर, मोमबत्ती जलवाकर जनता का एक सामूहिक मनोवैज्ञानिक परीक्षण कर यह पता लगाने में एक हद तक सफल भी हो गयी कि जनता का कितना बड़ा हिस्सा और किस हद तक तर्क और विज्ञान को ताक पर रखकर आरएसएस के फ़ासीवादी प्रचार के दायरे में आ चुका है। दूसरी ग़ौर करने वाली बात यह है कि ये फ़ासीवादी अनुष्ठान तब आयोजित किये जा रहे थे जब सीएए, एनआरसी और एनपीआर जैसे विभाजनकारी और आरएसएस के फ़ासीवादी मंसूबे को अमली जामा पहनाने वाले काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ देशभर में सैकड़ों जगहों पर शाहीनबाग़ की तर्ज़ पर महिलाओं ने मोर्चा सँभाल रखा था। इन बहादुर महिलाओं के क़दम से क़दम मिलते हुए पुरुष, छात्र, कर्मचारी, मज़दूर यानि देश का हर तबक़ा बड़ी तादाद में सड़कों पर था। सत्ता की शह पर फ़ासिस्ट गुण्डों द्वारा प्रदर्शन पर गोली चलवाने, अफ़वाह फैलाकर आन्दोलन को बदनाम करने, सुधीर चौधरी, दीपक चौरसिया, अर्णब गोस्वामी जैसे पट्टलचाट सत्ता के दलाल पत्रकारों द्वारा फैलाये जा रहे झूठ, हिन्दू-मुसलमान के नाम पर आन्दोलन को कमज़ोर करने की लाख कोशिशों के बावजूद जब आन्दोलनकारी महिलाएँ बहादुरी से इसका सामना करते हुए मैदान से पीछे नहीं हटी तब इन दरिन्दों ने उत्तर-पूर्वी दिल्ली दंगो का ख़ूनी खेल खेलना शुरू कर दिया जिसमें दिल्ली पुलिस भी इन दंगाइयों के कन्धे से कन्धा मिलाकर आगजनी और तोड़फोड़ में शामिल रही। दंगो में सरकारी रिपोर्ट के अनुसार 53 लोग मारे गये और सैकड़ों घायल हो गये। मस्जिदों में भगवा झण्डा लगाया गया, चुन-चुन के मुसलमानों की दुकानों को जलाया गया, घरों में आग लगायी गयी। इन सब घटनाओं के बाद भी आन्दोलन न सिर्फ़ मज़बूती से चलता रहा बल्कि सरकार को नाकों-चने चबाने पर मजबूर कर दिया। लेकिन कोरोना के आसन्न ख़तरे को देखते हुए इस आन्दोलन को फ़ौरी

तौर पर स्थगित कर सांकेतिक रूप में चलाने का निर्णय लिया गया। जनसैलाब के उभार से घबराये फ़ासिस्ट अपनी बौखलाहट छुपा नहीं सके और कायरता का नमूना पेश करते हुए सांकेतिक आन्दोलनों को पुलिस प्रशासन से हटवा दिया। इससे सहज ही समझ जा सकता है कि 22 मार्च को आरएसएस के जनता कर्फ़्यू के प्रयोग के दौरान जो उन्मादी-उल्लासी भीड़ सड़कों पर उतर कर भारत माता की जय, वन्दे मातरम, जय श्री राम चिल्लाते हुए रैली निकाल रही थी, वो कोरोना महामारी से लड़ने वाले डॉक्टरों के लिए नहीं थी; बल्कि इसका असली निहितार्थ यह सन्देश देना था कि सीएए, एनआरसी और एनपीआर पर सरकार टस से मस नहीं हुई और आखिरकार आन्दोलन को पीछे लेने पर मजबूर होना पड़ा।

करोड़ों मेहनतकश जनता के ऊपर कहर बरपा कर रही कोरोना महामारी और भुखमरी की आपदा को राजनीतिक विरोधियों के दमन के अवसर के रूप में भुना रही फ़ासिस्ट मोदी सरकार

निजीकरण की भेंट चढ़ चुका जर्जर सरकारी चिकित्सा तंत्र, सरकार की हत्यारी लापरवाही और जनता के प्रति भयंकर ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैये से दिन-ब-दिन विस्फोटक रुख़ अख़्तियार कर रहे कोरोना के संकट को झेल पाने में असमर्थ है। वहीं दूसरी ओर प्राइवेट अस्पताल इस संकट के समय में भी मुनाफ़ा बटोरने में लगे हुए हैं। कोरोना महामारी के दौरान शुरुआती दौर में मोदी सरकार की उदासीनता और बाद में बिना किसी पूर्वसूचना और तैयारी के अनियोजित तरीक़े से थोपे गये लॉकडाउन की वजह से करोड़ों मज़दूर अपनी जान जोख़िम में डालकर पैदल ही अपने घरों की ओर चल पड़ने के लिए मजबूर हो गये थे। मज़दूरों को फ़ासीवादी सरकार की हत्यारी निष्क्रियता ने सड़क हादसों, भूख और थकान का शिकार बनाकर हज़ारों प्रवासी मजदूरों को मौत के मुँह में धकेल दिया। योजनाविहीन और तानाशाहीपूर्ण तरीक़े से लागू किया गया लॉकडाउन मोदी सरकार के निकम्मेपन की वजह से पूरी तरह से फ़ेल हो चुका है। अब सरकारी संस्थाएँ भी मनाने को मजबूर हो गयी हैं कि देश 'कम्युनिटी ट्रांसफ़र' के स्टेज में पहुँच चुका है। लेख लिखे जाने तक कोविड-19 के मरीज़ों के मामले में भारत अमेरिका और ब्राज़ील के बाद तीसरे स्थान पर पहुँच चुका है। देश में सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ कोविड-19 के मरीज़ों की संख्या 20 लाख पार कर गयी है तथा इससे मरने वालों की संख्या 50 हज़ार के पार पहुँच चुकी है। मोदी सरकार अपने इस नकारापन को छुपने के लिए तमाम प्रपंच करने में जुटी हुई है।

एक तरफ जब देश कोरोना महामारी के इस भयंकर दौर का सामना कर रहा है तब सुप्रीम कोर्ट द्वारा राज्य और केन्द्र सरकार को दिये गये निर्देश कि "जेल में भीड़ कम करने के लिए राज्य सरकारों को क़ैदियों को पैरोल पर या ज़मानत देकर छोड़ना चाहिए, इसमें वृद्ध और बीमार क़ैदियो को प्राथमिकता दी जाये" को धता बताते हुए फ़ासीवादी सरकार इस आपदा को सीएए, एनपीआर और एनआरसी विरोधी आन्दोलन में सक्रिय कार्यकर्ताओं, मानव अधिकार के लिए संघर्ष करने वाले कार्यकर्ताओं, कश्मीरी आवाम के पक्ष में मज़बूती से खड़े होने वाले अपने राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ़ फ़र्ज़ी मुक़दमेबाज़ी कर जेल में डालने के मौक़े के रूप में भुना रही है। 'नेशनल लीगल सर्विस अथॉरिटी' की रिपोर्ट के मुताबिक़ लॉकडाउन के दौरान 16 मई तक 42,259 क़ैदियों को रिहा किया जा चुका था लेकिन हैरानी की बात यह है की इसमें से एक भी राजनीतिक क़ैदी नहीं थे। उल्टे कई गम्भीर बीमारियों से ग्रसित और 81 वर्षीय वरवर राव, 90 फ़ीसदी से ज़्यादा विकलांग दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर जी.एन. साईंबाबा, सुधा भारद्वाज जैसे राजनीतिक कार्यकर्ताओं की ज़मानत की याचिका को बार-बार खारिज़ कर दिया गया। इससे सरकार की मंशा बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि अपराधियों को भले छोड़ देंगे लेकिन किसी भी हालत में राजनीतिक क़ैदियों को नहीं छोड़ा जायेगा। जो दिल्ली पुलिस जम्मू-कश्मीर के डीएसपी देविन्दर सिंह, जो दसियों सालों से आतंकियों की मदद कर रहा था और आतंकियों को हथियार सहित घर में छुपने और अपनी गाड़ी से दिल्ली पहुँचाते हुए रंगे हाथ पकड़ा गया था, के ख़िलाफ़ चार्जशीट तक दाख़िल नहीं कर पायी वही दिल्ली पुलिस सरकार के इशारों पर फ़ासीवादी सरकार के दमनकारी, विभाजनकारी, भेदभावपूर्ण नीतियों के ख़िलाफ़ सड़कों पर आवाज़ बुलन्द करने वाली हर आवाज़ को फ़र्ज़ी मुक़दमे लगाकर, पूछताछ के बहाने शारीरिक और मानसिक उत्पीड़न कर दमन पर उतारू हो चुकी है। सीएए के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरी जनता के जज़्बे एकजुटता और जुझारूपन से बौखलायी मोदी सरकार भविष्य में आन्दोलन के फिर उठ खड़े होने की हर सम्भावना को ही मिटा देने पर आमादा है। कोरोना महामारी की वजह से देशभर में लॉकडाउन के दौरान, जब किसी भी तरह की क़ानूनी मदद की कोई गुंजाइश नहीं है तब फ़ासिस्ट सरकार यूएपीए, एनएसए, राजद्रोह आदि फ़र्ज़ी मुक़दमे लगाकर विरोध के हर स्वर का गला घोंटना चाहती है। इसी क्रम में सबसे पहले जामिया मिलिया इस्लामिया की शोध छात्रा और वहाँ चल रहे सीएए के ख़िलाफ़ आन्दोलन और जामिया कोऑर्डिनेशन कमेटी में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली मीरान हैदर को 2 अप्रैल को गिरफ़्तार किया गया और तब से गिरफ़्तारी का यह सिलसिला सीलमलपुर- ज़ाफ़राबाद आन्दोलन में नेतृत्वकारी भूमिका निभाने वाली गुलसिफ़ा, जामिया से एमफिल की छात्रा और जामिया कोऑर्डिनेशन कमेटी की प्रवक्ता और गिरफ़्तारी के समय गर्भवती सफ़ूरा जरगर, उमर ख़ालिद, पिंजरा तोड़ आन्दोलन से जुड़े और एन्टी सीएए प्रोटेस्ट में सक्रिय भूमिका निभाने वाली नताशा नरवाल, देवांगना कलिता से होते हुए अभी तक बदस्तूर जारी है। सफ़ूरा जरगर को 24 फ़रवरी को ज़ाफ़राबाद थाने में दर्ज उत्तर पूर्वी दिल्ली आरएसएस के उन्मादी गुण्डों द्वारा फैलायी गयी

हिंसा के मामले में पूछताछ के लिए बुलाया गया और वहीं उनको गिरफ़्तार कर लिया गया। इस मामले में 13 अप्रैल को सफ़ूरा की ज़मानत मिल गयी, लेकिन तुरन्त दिल्ली पुलिस ने 6 मार्च को दायर की गयी हिंसा फैलाने के एक अन्य मामले में जिसमें सफ़ूरा का नाम तक नहीं था और शुरुआती दौर में लगायी गयी सभी धाराएँ ज़मानती भी थी, में फ़र्ज़ी तरीके से एफ़आईआर में लिखे 'अन्य' वाले कॉलम में सफ़ूरा का नाम डाल दिया गया और 20 अप्रैल को एफ़आईआर की धाराओं में आज़ाद भारत के सबसे काले क़ानूनों में से एक यूएपीए जोड़ दिया गया। पिछले साल यूएपीए क़ानून में संशोधन कर फ़ासीवादी सरकार अपने मंसूबों के मुताबिक़ इसे और ज़्यादा ख़तरनाक बना डाला है जिसके तहत बिना किसी सुबूतों या गवाहों के पुलिस को मनमाने तरीके से किसी को आतंकी घोषित कर गिरफ़्तार करने का अधिकार मिल गया है। इसी तरह नताशा और देवांगना को भी जमानत मिल जाने के एक ही दिन बाद एफ़आईआर संख्या 59/20 और 49/20 के आधार पर दंगो का षड्यंत्र रचने, लोगों को भड़काने और हिंसा फैलाने के आरोप में यूएपीए लगाकर जेल भेज दिया गया। इसी एफ़आईआर संख्या 59/20 और 49/20 के तहत उमर ख़ालिद, सफ़ूरा जरगर, मीरान हैदर समेत कई लोगों पर यूएपीए थोप दिया गया है। यूएपीए कानून में संशोधन के बाद से ही भारत की फ़ासिस्ट सत्ता पूरे देश में राजनीतिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों की गिरफ़्तारी की मुहिम छेड़ चुकी है। सुधीर धवले, आनन्द तेलतुम्बड़े, डॉ. कफ़ील, शोमा सेन, अरुण फ़रेरा, सुरेंद्र गाडलिंग जैसे लोगों पर यूएपीए लगाकर सलाख़ों के पीछे धकेला जा चुका है। इसी प्रकार दिल्ली दंगा के समय अवामी एकजुटता कायम करने के मद्देनज़र नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन समेत कई अन्य मज़दूर संगठन संयुक्त रूप से पूरे दिल्ली में 16 दिवसीय जनसत्याग्रह पद यात्रा निकालकर लोगों से अमन की अपील कर रहे थे जो दिल्ली पुलिस को नागवार गुज़रा और पूछताछ के नाम पर नौभास के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष योगेश स्वामी, केन्द्रीय कमेटी के सदस्य विशाल, राकेश सहित अन्य नौभास से जुड़े कार्यकर्ताओं क्राइम ब्रांच की स्पेशल सेल बेहद ग़ैर-लोकतांत्रिक तरीक़े से परेशान करती रही। पूरे देशभर में सीएए के ख़िलाफ़ चल रहे आन्दोलन में नौभास के कार्यकर्ताओं ने बढ़चढ़कर हिस्सा लिया और इसलिए उत्तराखण्ड, उत्तरप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र से लेकर दिल्ली तक में पुलिस के निशाने पर रहे। वहीं दूसरी तरफ़ दिल्ली दंगो का ख़ूनी खेल रचने वाले असली दंगाई कपिल मिश्रा, अनुराग ठाकुर, प्रवेश वर्मा, रागिनी तिवारी, अभय वर्मा जैसे अपराधी अभी भी खुलेआम घूम रहे है। इन दंगाइयों के भड़काऊ भाषणों का स्पष्ट प्रमाण होने के बावजूद दिल्ली पुलिस न तो इन्हें गिरफ़्तार करती है और ना ही पूछताछ की ज़हमत उठाती है। उल्टे भाजपा नेताओं के भड़काऊ भाषणों और दंगा फैलाने के लिए हाईकोर्ट के जज एस. मुरलीधरन ने जब एफ़आईआर दर्ज करने का आदेश दिया तब एफ़आईआर तो दूर उलटे जज साहब का ही तबादला हो गया। इलाहाबाद के रोशनबाग में चल रहे सीएए, एनआरसी और एनपीआर के ख़िलाफ़ प्रदर्शन का नेतृत्व कर रहे लोगों पर प्रशासन ने कई बार मुक़दमा दायर किया और जब 23 मार्च को कोरोना के मद्देनजर सबकी सहमति से आन्दोलन को वापस लिया गया तभी से प्रशासन कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी में लग गया है। पिछले दिनों इलाहाबाद के आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाने वाले उमर ख़ालिद और फ़ज़ल ख़ान को गिरफ़्तार कर प्रशासन द्वारा 'कस्टोडियल टॉर्चर' किया गया और फ़ज़ल ख़ान के ऊपर देशद्रोह की धारा लगा दी गयी। दो महीने से ज़्यादा समय तक जेल में रहने के बाद उन्हें ज़मानत मिल सकी। आन्दोलन में सक्रिय दिशा छात्र संगठन के अमित सहित दर्जनों लोगों पर 'पैण्डेमिक एक्ट' और धारा 144 के तहत फ़र्ज़ी मुक़दमा दायर किया गया है।

इन सब गिरफ़्तारियों का ध्यान से विश्लेषण करने पर ख़तरनाक फ़ासीवादी ट्रेंड सामने आता है वह यह कि 1. अचानक बिना किसी पूर्व सूचना और वारण्ट के गिरफ़्तार किया जाना; 2. एक के बाद दूसरे मामले में फँसाकर जेल में क़ैद करने की पहले से ही स्पष्ट और विस्तृत तैयारी; 3. पुराने एफ़आईआरों में 'अन्य' के अंतर्गत नये-नये नामों को जोड़ते जाना। जाफ़राबाद मेट्रो स्टेशन के बाहर हुई हिंसा के बाद दर्ज की गयी एफ़आईआर की कॉपी में कहीं भी नताशा का नाम नहीं था, लेकिन पहली बार ज़मानत मिलने के अगले दिन ही एफ़आईआर में 'अन्य' की जगह नताशा का नाम डाल उनपर यूएपीए के तहत मुक़दमा दर्ज कर जेल भेज दिया गया। असल में 'अन्य' फ़ासीवादी राज्यसत्ता के लिए एक महत्वपूर्ण संवैधानिक हथियार का काम कर रहा है। जिस कॉलम में बाद कभी भी किसी का नाम जोड़ा जा सकता है जो घटनास्थल पर मौजूद हो या न हो। 'वह मौज़ूद नहीं था' यह साबित करना उसका काम है। अगर उसे किसी मामले में ज़मानत मिल भी गयी तो भी सत्ता के पास तुरन्त दूसरी रिपोर्ट तैयार कर उसे जेल में डालने का साधन तैयार है और सबसे बड़ी बात यह है कि यह सब गड़बड़ घोटाला पूरी तरह संवैधानिक है। मतलब साफ़ है कि संवैधानिक और क़ानूनी दायरे में ही फ़ासिस्टों के लिए इतने लूपहोल मौजूद है कि उनको किसी संविधान को ख़त्म करने की ज़रूरत ही नहीं है।

श्रम कानूनों को ख़त्म करने पर तुली मोदी सरकार

कोरोना महामारी की वजह से काम-धन्धा ठप्प पड़ जाने और मज़दूरों से रोज़गार छिन जाने के बाद देश के करोड़ों मेहनतकशों के सामने जीविका का संकट पैदा हो गया है। 20 लाख करोड़ के पैकेज, सबको राशन देने की मोदी की हवा-हवाई घोषणाओं की पोल-पट्टी खुल चुकी है। और अब पूँजीपतियों के मुनाफ़े की हवस को पूरा करने के लिए मज़दूरों को वापस फ़ैक्ट्रियों में धकेला जा रहा हैं। देशी-विदेशी पूँजी के मुनाफ़े के लिए मजदूरों के सामने सरकार द्वारा केवल दो विकल्प छोड़े गये हैं या तो भूख से मौत

या कोरोना से मौत। और ऐसे समय में मोदी सरकार बेशर्मी से 'आत्मनिर्भर' बनने का पाठ पढ़ा रही है। इस कठिन समय में केन्द्र और राज्य सरकारें मिलकर बचे-खुचे श्रम क़ानूनों को ख़त्म करने पर तुली हुई हैं। उत्तर प्रदेश ने सरकार तमाम श्रम क़ानूनों, जिसमें कार्यस्थिति से लेकर न्यूनतम मज़दूरी तक के क़ानून शामिल हैं, को तीन साल के लिए स्थगित कर दिया है। काम के घण्टे को भी आठ से बढ़ाकर बारह कर दिया गया था लेकिन भारी जनदबाव के बाद हाईकोर्ट के दख़ल से योगी सरकार का यह फ़ासीवादी मंसूबा पूरा नहीं हो पाया। इसी तर्ज़ पर हरियाणा की खट्टर सरकार ने भी श्रम क़ानूनों को 1,000 दिन के लिए स्थगित कर दिया है। गुज़रात, मध्यप्रदेश, त्रिपुरा, राजस्थान सहित कई राज्यों में अध्यादेश लाकर श्रम क़ानूनों में मज़दूर-विरोधी बदलाव कर दिये गये है जिसका परिणाम कभी विशाखापट्टनम, कभी विहग, कभी गुजरात के भरूच तो कभी ग़ाज़ियाबाद में हुई भयंकर औद्योगिक घटनाओं के रूप में सामने आता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ये देश में होने वाली हज़ारों घटनाओं में से चन्द घटनाएँ हैं, जिसे मीडिया भी नहीं छिपा पाता है। ऐसी भयानक घटनाओं के लिए जितना ज़िम्मेदार फ़ैक्ट्री प्रबंधन है उतनी ही यह मज़दूर-विरोधी सरकारें हैं।

लॉकडाउन में सार्वजनिक उपक्रमों के अन्धाधुन्ध निजीकरण की मुहिम

कोविड़-19 की वजह से जब देश में सभी तरह की गतिविधियों पर रोक लगा दी गयी थी उस समय मोदी सरकार पूँजीपतियों के हितों को साधने में लगी थी। 'देश नहीं बिकने दूँगा' का जुमला फेकने वाली मोदी सरकार की गिद्ध निगाहें कोयला कम्पनियों, रेलवे, बीएसएनएल, एमटीएनएल जैसी बड़ी सार्वजनिक कम्पनियों पर लगी थीं। दूसरी बार सत्ता पर काबिज़ होते ही मोदी सरकार ने '100 दिन एक्शन प्लान' के तहत रेलवे को निजी हाथों में सौपने का मंसूबा जता दिया था। 1 जुलाई को रेलवे बोर्ड ने 109 मार्गों पर चलने वाली 151 गाड़ियों का परिचालन निजी हाथों में देने का टेण्डर जारी कर दिया। रेलवे के निजीकरण के इस मॉडल में इनफ्रास्ट्रक्चर जैसे ट्रैक, सिगनल्स, ट्रेन ऑपरेशन तो अभी भी सार्वजनिक रहेगा लेकिन ट्रेन (ड्राईवर/गार्ड को छोड़कर) निजी होंगी। इस धूर्तता को सरकार नये-नये लच्छेदार शब्दों (पब्लिक-प्राइवेट-पार्टनरशिप) में पिरोकर परोस रही है। पब्लिक-प्राइवेट-पार्टनरशिप का मतलब साफ़ है कि पब्लिक के ख़ून-पसीने के पैसे से प्राइवेट कम्पनियाँ मुनाफ़ा बटोरेंगी और अगर कभी घाटा होने लगा तो अपनी पूँजी (जो कि न के बराबर लगी हुयी है) निकालकर चल देंगी। इसी तरह सरकार एमटीएनएल और बीएसएनएल की 37,500 करोड़ की ज़मीन और बिल्डिंगें बेचने जा रही है। सरकारी नीतियों की वजह से पहले से बर्बादी के कगार पर खड़ी दोनों कम्पनियों को सरकार अब आख़िरी धक्का देने के मूड में है। अब तक किसी भी तरह इन्फ्रास्ट्रक्चर के दम पर ये कम्पनियाँ बाज़ार में खड़ी थीं लेकिन अब मोदी सरकार उनसे उनका आख़िरी सहारा भी छीनने में लग गयी है। और इस बिक्री का सीधा फ़ायदा जिओ जैसी कम्पनियों को होगा। लॉकडाउन के बीच 18 जून को भाजपा सरकार ने 41 कोल ब्लॉक के वाणिज्यिक खनन यानी निजी कम्पनियों को खनन की अनुमति दे दी। अब इस फैसले के बाद निजी कम्पनियाँ निकाले गये कोयले का किसी भी रूप में (एक्सपोर्ट, अपनी ऊर्जा कंपनी के लिए या देशी बाज़ार में बिक्री के लिए) इस्तेमाल करने के लिए आज़ाद हैं। 2014 में सत्ता पाने के बाद से ही कोयला सेक्टर मोदी सरकार के निशाने पर रहा है। 2015 में कोल माइन्स एक्ट (स्पेशल प्रोविज़न) के जरिये कोयला खनन में निजी कम्पनियों का रास्ता साफ़ करने के बाद 2018 में कोकिंग कोल माइन्स एक्ट 1972 और कोल माइन्स एक्ट 1973 को भंग कर मोदी सरकार द्वारा प्राइवेट खिलाड़ियों को निकाले गये कोयले का 25 फ़ीसदी बेचने की भी छूट दे दी गयी थी। कोयला खनन में 100% एफ़डीआई पहले से ही लागू है यानी खनन के क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजी को मज़दूरों की मेहनत लूटने की खुली छूट दे दी गयी है। इस आपदा को भाजपा ने विधायकों की ख़रीद-फ़रोख्त के लिए धन जुटाने के अवसर के रूप में भी जमकर इस्तेमाल किया है। नेशनल रिलीफ़ फ़ण्ड होने के बावजूद कोरोना से लड़ने के नाम पर पीएम केयर्स फ़ण्ड बनाया गया है। इस नये फ़ण्ड में करोड़ों लोगों ने पैसे दिये, साथ ही पब्लिक सेक्टर की 38 कम्पनियों ने भी कॉरपोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी के तहत 2,018 करोड़ रुपये दिये। अब पूँजीवादी व्यवस्था के तीसरे "मजबूत स्तम्भ" (जनता के लिए नहीं पूँजीपतियों के लिए) ने पीएम केयर्स फ़ण्ड का हिसाब देने की किसी भी बाध्यता से मुक्त कर दिया है।

इसी तरह जनता पर मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही के कारण जनता पर टूट पड़ी इस आपदा को सरकार नौकरियों को ख़त्म करने, पाठ्यक्रम में बदलाव कर आरएसएस का पाठ्यक्रम लागू करने, नयी शिक्षा नीति के ज़रिए प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक के दरवाज़े देशी-विदेशी पूँजी के लिए खोलने और देश के प्राकृतिक संसाधनों को देशी-विदेशी लुटेरों के हवाले करनेके अवसर के रूप में जमकर इस्तेमाल कर रही है। स्पष्ट है कि कोविड-19 की आपदा भाजपा और संघ परिवार के लिए अपने फ़ासिस्ट एजेण्डे को आगे बढ़ाने का अवसर है। लेकिन इतना ज़रूर है फ़ासिस्टों ने जितने नंगे तरीक़े से इस आपदा को अवसर में बदलने की कोशिश की उससे इनका फ़ासीवादी चाल-चेहरा-चरित्र और भी उजागर हुआ है। यह जनता के लिए सबक़ लेने और इस फ़ासीवादी निज़ाम को ध्वस्त करने के लिए अपनी तैयारियाँ तेज़ करने का भी अवसर है।

विमर्श

षड्यंत्र सिद्धान्तों (कॉन्सपिरेसी थियरीज़) के पैदा होने और लोगों के बीच उनके फैलने का भौतिक आधार क्या है

शिशिर

जब भी समाज किसी संकट से गुज़रता है तो षड्यंत्र सिद्धान्तों की बाढ़-सी आ जाती है। नयी सहस्राब्दी की शुरुआत उस संकट के अभूतपूर्व रूप से गहराने के साथ हुई, जोकि 1970 के दशक से ही जारी था। 2008 में वैश्विक आर्थिक संकट के साथ यह लम्बी महामन्दी एक ऐसे मुक़ाम पर पहुँच गयी, जोकि 1930 के दशक की महामन्दी के बाद सबसे गम्भीर संकट साबित हुई। कुछ मामलों में यह संकट 1930 की महामन्दी से ज़्यादा ढाँचागत और गम्भीर था क्योंकि पूँजीवाद लम्बे समय से किसी समृद्धि (बूम) के दौर का साक्षी नहीं बना था और युद्ध जैसी किसी घटना के ज़रिये बड़े पैमाने पर उत्पादक शक्तियों के विनाश के बिना इस संकट से उबरने के कोई आसार भी नहीं दिख रहे हैं। लेकिन आज के समय में ऐसे बहुत सारे राजनीतिक व सामरिक कारक हैं जो किसी विश्वयुद्ध या किसी बड़े महाद्वीपीय युद्ध को बेहद मुश्किल बना देते हैं। ऐसे में मुनाफ़े के संकट से तात्कालिक तौर पर निजात पाने का भी केवल एक ही रास्ता बचता है: मज़दूरों व मेहनतकशों के शोषण को उनकी औसत मज़दूरी/वेतन को कम करना, शोषण की दर को बढ़ाना और उनसे हर प्रकार के श्रम व जनवादी अधिकार छीनना। लेकिन यह ऐसे क़दम हैं जो समाज में राजनीतिक व सामाजिक संकट को जन्म देते हैं। ऐसे में शासक वर्गों को यह ज़रूरत होती है कि धुर प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपंथी व फासीवादी ताक़तें सत्ता में हों ताकि प्रतिरोध के हर स्वर को कुचला जा सके। 2008 के बाद से ही पूरी दुनिया में अलग-अलग देशों में धुर दक्षिणपंथी व फासीवादी ताक़तों का उभार कोई संयोग नहीं था, बल्कि इसी महामन्दी के सामाजिक व राजनीतिक संकट में तब्दील होने का नतीजा था।

इसी दौर में, जबकि जनसंघर्षों को प्रतिक्रियावादी सत्ताओं द्वारा कुचला जा रहा है, नये-नये दमनकारी क़ानून बनाए जा रहे हैं, पर्यावरणीय विनाश अपने आपको भयंकरतम रूपों में पेश कर रहा है, दुनिया कोरोना महामारी के रूप में एक ऐसे स्वास्थ्य संकट का सामना कर रही है, जोकि मौजूदा मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था ने ही अपनी सहज गति से पैदा किया है, बेरोज़गारी और ग़रीबी नये रिकॉर्ड तोड़ रही है और सामाजिक व आर्थिक अनिश्चितता अपने चरम पर है; तो हम षड्यंत्र सिद्धान्तों के उभार को भी देख रहे हैं। ऐसे समय में जब लोगों को लगता है कि वे अपने सामाजिक व आर्थिक अस्तित्व के तमाम पहलुओं पर नियंत्रण खो चुके हैं या खोते जा रहे हैं, उसी समय ऐसे सिद्धान्त पैदा होते हैं। इसके स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं कि नयी सहस्राब्दी की शुरुआत और विशेष तौर पर 2007-8 के बाद से षड्यंत्र सिद्धान्त के मशरूम बड़े पैमाने पर उग रहे हैं। कई अध्ययन इस बात को दिखला चुके हैं।

षड्यंत्र सिद्धान्तों का भौतिक आधार क्या है?

कई लोग षड्यंत्र सिद्धान्तों को केवल कुछ व्यक्तियों की मूर्खता का नतीजा मानते हैं। यह सच है कि षड्यंत्र सिद्धान्त मूर्खता से पैदा होते हैं। लेकिन इस मूर्खता का भी एक वर्ग चरित्र और भौतिक आधार होता है।

ये षड्यंत्र सिद्धान्त हार, निराशा, विपर्यय के ऐसे दौर में टटपुँजिया वर्गों के बुद्धिजीवियों में पैदा होते हैं, जब वर्ग संघर्ष में सर्वहारा वर्ग व प्रगतिशील ताक़तें हार रही होती हैं या हार चुकी होती हैं, प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ हावी होती हैं, और संकट का कोई समाधान नज़र नहीं आ रहा होता है। ऐसे मौकों पर विशेष तौर पर टटपुँजिया बौद्धिकों की जमात में यह प्रवृत्ति पैदा होती है। इस प्रवृत्ति के शिकार लोगों को लगता है कि कुछ शक्तिशाली और बुरी ताक़तें दुनिया को नियंत्रित कर रही हैं, यथार्थ को नियंत्रित कर रही हैं; दुनिया में जो कुछ भी हो रहा है वह उनकी योजनाओं का अंग है; इतिहास में संयोग या आकस्मिकता का कोई स्थान नहीं होता है, सबकुछ पूरी तरह से सुनियोजित है और पूरी तरह से शक्तिशाली बुरी ताक़तों की इच्छा से संचालित होता है।

नतीजतन, कोविड-19 तानाशाह सरकारों, फार्मा कम्पनियों, विशालकाय कार्पोरेशंस का षड्यंत्र बन जाता है, जिसके तहत ये कम्पनियां अपने उत्पादों को बेचना चाहती हैं, वैक्सीनेशन करके लोगों के शरीर में कोई चिप डालना चाहती हैं ताकि उन्हें ट्रैक किया जा सके और नियंत्रित किया जा सके, या ये सरकारें लोगों पर दमनकारी कानून थोपना चाहती हैं, एक वैश्विक सर्वसत्तावादी तंत्र बनाना चाहती हैं, जिसमें किसी भी प्रकार का प्रतिरोध न हो, और सत्ता को किसी भी प्रकार की कोई चुनौती न हो। **जिस दौर में लोगों के अन्दर अपने जीवन के यथार्थ के किसी भी पहलू पर नियंत्रण का पूरा बोध ही समाप्त हो रहा हो, उस**

समय ऐसे सिद्धान्तों की अपील काफ़ी बढ़ जाती है।

क्या करते हैं षड्यंत्र सिद्धान्त?

ऐसे सिद्धान्त प्रतीतिगत तौर पर जो कुछ हो रहा होता है, उसकी व्याख्या करते प्रतीत होते हैं। लेकिन वास्तव में वे किसी भी प्रकार की वास्तविक व्याख्या का रास्ता बन्द कर देते हैं। उनका असर कुछ वैसा ही होता है जैसाकि एक मरीज़ पर प्लेसीबो पिल का होता है। उसके अन्दर कोई औषधि होती ही नहीं है, लेकिन मरीज़ को लगता है कि इस प्लेसीबो पिल ने उसकी समस्या का समाधान कर दिया है। इस रूप में षड्यंत्र सिद्धान्त न सिर्फ़ वास्तविकता की कोई व्याख्या नहीं पेश करते हैं, बल्कि वे ऐसी किसी भी ढाँचागत व वैज्ञानिक व्याख्या का रास्ता पहले ही बन्द कर देते हैं।

लेकिन ये षड्यंत्र सिद्धान्त केवल भ्रान्तिपूर्ण या मूर्खतापूर्ण चिन्तन का नतीजा नहीं है। निश्चित तौर पर, यह भ्रान्तिपूर्ण और मूर्खतापूर्ण तो होता ही है। लेकिन जब ऐसी मूर्खता बड़े पैमाने पर हो रही हो, तो इसका भी हमें ढाँचागत विश्लेषण करना होगा।

क्या दुनिया में षड्यंत्र होते हैं? हाँ, होते हैं! लेकिन अपने आप में और अपने द्वारा वे किसी भी परिघटना की कोई व्याख्या नहीं करते हैं। उल्टे इन षड्यंत्रों की व्याख्या की जानी होती है कि आखिर वे किसी ख़ास बिन्दु पर ख़ास लोगों द्वारा क्यों किये गये। जो इन षड्यंत्रों को ही तमाम परिवर्तनों का बुनियादी कारण मानते हैं, उन्हें ही हम षड्यंत्र सिद्धान्तकार कहते हैं। इनकी ख़ासियत यह होती है कि वे यथार्थ के पीछे के ढाँचागत कारकों की कोई पहचान नहीं करते हैं, बल्कि तमाम परिवर्तनों या घटनाओं को कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों, या कॉरपोरेशनों, या सरकारों, सीक्रेट सोसायटी आदि के बुरे, शैतानी इरादों में अपचयित कर देते हैं।

षड्यंत्र सिद्धान्तकारों की यह ख़ासियत होती है कि वे अपने षड्यंत्र सिद्धान्त को कभी ठोस प्रमाण पर परखने की ज़हमत नहीं उठाते हैं क्योंकि अपने स्वभाव से ही ये सिद्धान्त किसी भी प्रकार के प्रमाणन या सत्यापन के प्रति निरोधक क्षमता रखते हैं। मिसाल के तौर पर, ये बुरे, शक्तिशाली लोग, या कारपोरेशन या सरकारें, कोई सबूत नहीं छोड़ती हैं और लोगों को वह सोचने पर बाध्य कर देती हैं, जैसा कि वे चाहती हैं कि वे सोचें! नतीजतन, कोई ठोस और सुसंगत प्रमाण मांगना ही निषिद्ध है। नतीजतन, कुछ बिखरे तथ्यों और बातों को ये षड्यंत्र सिद्धान्तकार अपनी तरीके से एकत्र करते हैं, उनके बीच मनोगत तरीके से कुछ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और बस एक षड्यंत्र सिद्धान्त तैयार हो जाता है। और ऐसे सिद्धान्तों की एक अस्पष्ट सी अपील होती है क्योंकि उसमें प्रमाणों, सम्बन्धों, आलोचनात्मक चिन्तन आदि पर आधारित किसी वास्तविक विश्लेषण की कोई आवश्यकता नहीं होती है, जोकि एक वर्ग समाज में हर परिघटना के पीछे काम करने वाले वर्गीय राजनीतिक ढाँचागत कारकों को अनावृत्त कर सकें।

षड्यंत्र सिद्धान्तों का वर्ग चरित्र और उनकी विचारधारात्मक प्रकृति

यह बौद्धिक तौर पर टटपुँजिया वर्गों के राजनीतिक बौनेपन की अभिव्यक्ति होती है। यह भी एक प्रकार की विचारधारा (ideology) है। मार्क्स व एंगेल्स ने विचारधारा का चरित्र बेहद स्पष्ट तौर पर समझाया। यह विचारों की एक ऐसी व्यवस्था होती है, जो कि एक वर्ग समाज के फेटिश चरित्र के कारण पैदा होती है, एक छद्म चेतना को जन्म देती है, जिसके ज़रिये या यूँ कहें कि जिसके प्रिज़्म के ज़रिये लोग यथार्थ को देखते और व्याख्यायित करते हैं। फ़ेटिश को यदि आप मार्क्सवादी अर्थ में समझना चाहते हैं तो वह है कोई भी ऐसी चीज़ जो आपको वास्तविकता को देखने से रोके या जो वास्तविकता पर पर्दा डाले। मार्क्स के शब्दों में दुनिया की जो छवि विचारधारा हमारे मस्तिष्क पर निर्मित करती है, वह भ्रामक होती है, सही नहीं होती, उल्टी या इन्वर्टेड होती है। लेकिन मार्क्स बताते हैं कि एक वर्ग समाज में शोषण के सम्बन्ध वास्तविकता को छिपाते हैं, और पूँजीवादी समाज में यह चीज़ अपने चरम पर पहुँच जाती है क्योंकि यहाँ आर्थिक सम्बन्धों का चरित्र ही फ़ेटिशिस्टिक होता है। क्योंकि श्रमशक्ति के माल बन जाने के साथ पूँजीवादी शोषण का क्षुद्र, घृणित रहस्य छिप जाता है।

मार्क्स के अनुसार, विचारधारा को महज़ बौद्धिक आलोचना के ज़रिये ख़त्म करना सम्भव नहीं है। चूँकि भौतिक यथार्थ का चरित्र ही फेटिशिस्टिक है, इसलिए इस यथार्थ को बदले बग़ैर वैचारिक आलोचना के ज़रिये आप विचारधारा को ख़त्म नहीं कर सकते हैं। जब मनुष्यों के बीच सम्बन्धों का चरित्र फ़ेटिशिस्टिक नहीं रह जायेगा, तो विचारधारा के अस्तित्व का भौतिक आधार भी समाप्त हो जायेगा। इसीलिए मार्क्स ने कहा था कि धर्म-विरोधी प्रचार के ज़रिये धर्म को समाप्त करने की फन्तासियाँ स्वयं विचारधारात्मक हैं क्योंकि धर्म को आलोचना के ज़रिये समाप्त नहीं किया जा सकता है, बल्कि भौतिक समाज में उसकी जड़ों को समाप्त करके ही समाप्त किया जा सकता है, यानी उसे मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के शोषण को समाप्त करके ही ख़त्म किया जा सकता है।

षड्यंत्र सिद्धान्तों को भी महज़ कुछ लोगों की मूर्खता का नतीजा नहीं मानना चाहिए। निश्चित तौर पर, मूर्खता और अर्धपागलपन भी है, लेकिन इसका एक सामाजिक वर्गीय आधार है और यह महज़ कोई अव्यवस्थात्मक विसंगति (asystemic anomaly) नहीं है, जो कुछ व्यक्तियों में संयोग से पैदा हो गयी हो। इसका एक भौतिक आधार है।

षड्यंत्र सिद्धान्त: पराजय और विपर्यय के दौर के टटपुँजिया बौने सिद्धान्त

षड्यंत्र सिद्धान्तों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या होती है? पराजय, निराशा और वर्ग संघर्ष में विपर्यय और हार के दौरों में,

विशेष तौर पर, टटपुँजिया वर्गीय बौद्धिकों के बीच (मगर केवल उन सीमित नहीं) यह प्रवृत्ति पैदा होती है। इसके तहत वे समाज में शासक वर्गों के प्रभुत्व को, जिसे फिलहाल कोई व्यापक सामाजिक चुनौती नहीं मिल रही होती है, शासित वर्गों के जीवन में मौजूद शोषण और दमन को (जिसके ख़िलाफ़ फ़िलहाल कोई आवाज़ उठती नज़र नहीं आ रही होती है) कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों, कम्पनियों, तानाशाहों, आदि की इच्छा का परिणाम मानते हैं। यह सबकुछ उनकी गुप्त योजनाओं का परिणाम होता है!

चूँकि समाज में वर्ग संघर्ष में प्रगतिशील शक्तियाँ शासक वर्गों को अर्थपूर्ण रूप से कोई चुनौती देती नज़र नहीं आती हैं, इसलिए वर्ग संघर्ष का ढाँचागत कारक परिवर्तन की प्रेरक शक्ति के रूप में स्वत: स्पष्ट नहीं होता और नेपथ्य में चला जाता है। नतीजतन, इतिहास ढाँचागत वर्गीय शक्तियों के अन्तरविरोध की अभिव्यक्ति की बजाय शक्तिशाली, बुरे लोगों, कारपोरेशनों, आदि की इच्छा का परिणाम नज़र आता है, जिनका हर चीज़ पर नियंत्रण होता है। यथार्थ का कोई भी पहलू उनके नियंत्रण से बाहर नहीं होता है। सच यह है कि एक पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक जगत से लेकर सामाजिक व राजनीतिक जगत तक में सबकुछ स्वयं पूँजीपति वर्ग के भी नियंत्रण में नहीं होता है। यह आर्थिकेतर उत्पीड़न पर आधारित व्यवस्था नहीं होती है (हालाँकि आर्थिकेतर उत्पीड़न पर आधारित व्यवस्थाओं में भी शासक वर्ग का जीवन के हर पहलू पर पूर्ण नियंत्रण नहीं होता है), बल्कि बाज़ार की शक्तियों पर आधारित एक व्यवस्था होती है जिसकी पहचान मार्क्स के शब्दों में प्रतिसन्तुलनकारी असन्तुलनों (turbulent equibration या disturbances that balance each other) से होती है और ठीक इसीलिए स्वयं पूँजीपति वर्ग भी पूँजी की गति से संचालित और नियंत्रित होता है और पूँजीवादी समाज के हर पहलू पर उसका पूर्ण नियंत्रण नहीं होता है, हालाँकि अपनी राज्यसत्ता के द्वारा वह लगातार इन्हें नियंत्रित करने का प्रयास ज़रूर करता है।

जब हम पूँजीवादी व्यवस्था में मौजूद इन ढाँचागत शक्तिशाली कारकों की सही पहचान और विश्लेषण नहीं कर पाते हैं, तो हम आदिम तरीके से बल का सिद्धान्त लगाते हैं। यानी ठीक उसी प्रकार जैसे आदिम कबीले प्राकृतिक परिघटनाओं पर बल का सिद्धान्त लगाते थे, हालाँकि वे इस सिद्धान्त के अस्तित्व में प्रति सचेत नहीं थे। वे जब कोई भी प्राकृतिक परिघटना देखते थे, तो उसके पीछे किसी व्यक्ति की कल्पना करते थे जो अतिशक्तिशाली था। इसकी वजह यह थी कि वह प्रकृति में सक्रिय संरचनात्मक शक्तियों की अन्तर्क्रिया के प्रति अनजान थे। यह अज्ञान ही ऐसे देवताओं व अन्त में ईश्वर की रचना की तरफ गया जिसकी इच्छा प्रकृति को संचालित करती थी। उसी प्रकार आज के टटपुँजिया षड्यंत्र सिद्धान्तकार पूँजीवादी समाज में होने वाली परिघटनाओं या परिवर्तनों के पीछे सक्रिय ढाँचागत कारकों को नहीं समझते हैं और उस पर बल का सिद्धान्त लगाते हैं! परिणामस्वरूप वे इस नतीजे पर पहुँच ते हैं कि कोई तो यह सब कर रहा है, संयोग तो कुछ भी नहीं होता। इसलिए जब कोविड-19 जैसी कोई महामारी फैलती है तो वह तुरन्त चीख़ उठते हैं: "यह अचानक कैसे हो गया! इसके पीछे ज़रूर इज़ारेदार वैश्विक कारपोरेशनों और उनके इशारों पर काम करने वाली तानाशाह सरकारों व राज्यसत्ताओं की 'डीप स्टेट' के षड्यंत्र हैं!" इसलिए षड्यंत्र सिद्धान्तकारों के बारे में कहा जा सकता है कि समझदारी की बात करें, तो वे आदिम कबीलों के आदिम मनुष्य की तर्क-क्षमता के स्तर पर ही रह गये हैं, हालाँकि अपनी मूर्खताओं का प्रचार वे आधुनिकतम माध्यमों से करते हैं!

पूँजीवादी समाज के संकट के पीछे जटिल ढाँचागत कारक मौजूद होते हैं। एक टटपुँजिया फ़िलिस्टाइन बुद्धिजीवी के पास न तो यह क्षमता होती है और न ही उसका ऐसा रुझान होता है कि वह इन जटिल कारकों के अन्तर्सम्बन्धों का सावधानी के साथ वैज्ञानिक विश्लेषण करे। इसके विपरीत, समूचे संकट को ही एक षड्यंत्र बता देना ज़्यादा आसान और आकर्षक प्रतीत होता है।

समाज के कुछ हिस्सों में षड्यंत्र सिद्धान्तों के प्रति आकर्षण का भौतिक आधार

अपने जीवन के रोज़मर्रा के ऊबाऊ रूटीनी काम में लगी आम मध्यवर्गीय आबादी के एक हिस्से को और यहाँ तक कि रोज़ी-रोटी की जद्दोजहद में लगी मेहनतकश आबादी के एक हिस्से को भी ये सिद्धान्त अपील करते हैं। उन्हें भी अपने सामने मौजूद जटिल, संश्लिष्ट सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक परिघटनाओं को समझना होता है जो कि बेहद भ्रामक नज़र आती हैं। उन्हें अपने जीवन का संकट भी बेहद भ्रामक दिखता है और यह सहज स्पष्ट नहीं होता कि इसके लिए ज़िम्मेदार कौन है! ऐसे लोगों को भी एक व्याख्या की आवश्यकता होती है। जैसा कि हमने पहले इंगित किया था, षड्यंत्र सिद्धान्त ऐसे लोगों के लिए वही काम करता है, जो कि मरीज़ों के लिए एक प्लेसीबो पिल करती है। वह उन्हें एक छद्म व्याख्या देती है, जो कि वास्तव में व्याख्या है ही नहीं बल्कि मूर्खतापूर्ण अटकलबाजियों का एक समुच्चय है।

षड्यंत्र सिद्धान्त इसलिए भी ख़तरनाक होते हैं कि वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे तथ्यों व प्रमाणों पर आधारित हों, हालाँकि वास्तव में वह कुछ बिखरे तथ्यों व प्रमाणों, जिन्हें कि मनोगत तरीक़े से चुना गया होता है, का समुच्चय होते हैं, जिन्हें फ़ैण्टास्टिक तरीके से जोड़कर कुछ अटकलबाजियाँ की जाती हैं। इनके मुताबिक़, सारी वैक्सीनें वास्तव में साज़िश हैं, कोरोना साज़िश है, 5जी साज़िश है, बिल गेट्स दुनिया के लोगों के शरीर में चिप डालकर उन्हें नियंत्रित करना चाहता है, संकट भी एक साज़िश है जो जॉर्ज सोरोस जैसे अतिशक्तिशाली, अतिधनाढ्य सट्टेबाज़ आदि अंजाम देते हैं, इत्यादि।

षड्यंत्र सिद्धान्तों की अपील का एक कारण यह भी होता है कि वे यह मानते हैं कि दुनिया असमान सत्ता सम्बन्धों पर

आधारित है, कि दुनिया में कुछ शक्तिशाली लोग हैं जो अपने हितों के लिए काम करते हैं और आम लोगों के ख़िलाफ़ काम करते हैं। वे मानते हैं कि मानव इतिहास में शुरू से ही कुछ शक्तिशाली लोग रहे हैं और बाकी अज्ञानी जनता रही है। कुछ शक्तिशाली लोगों का गिरोह सारी चीज़ें नियंत्रित करता है, उन्हें तय करता है और जनता को इसके बारे में भनक नहीं लगने देता जोकि यह भी नहीं जान पाती है कि वह क्या नहीं जानती है! नतीजतन, सारे अन्तरविरोध को इस घटाकर इस बाइनरी (जोड़े) में समेट दिया जाता है: '1 प्रतिशत बनाम 99 प्रतिशत'। यानी, शक्तिशाली और कमज़ोर में अन्तरविरोध की बात होती है और इसलिए ये षड्यंत्र सिद्धान्त आकर्षक होते हैं लेकिन वास्तविक ढाँचागत अन्तरविरोध की पहचान करने की बजाय, यानी ऐतिहासिक, राजनीतिक व सामाजिक शक्तियों के बीच ढाँचागत वर्गीय अन्तरविरोध की प्रेरक शक्ति के रूप में पहचान करने की बजाय, षड्यंत्र सिद्धान्त इसे कुछ बुरे, शैतानी, शक्तिशाली लोगों, कारपोरेशनों, तानाशाहों, सरकारों तथा बाकी अज्ञानी जनता के अन्तरविरोध में अपचयित कर देते हैं। नतीजतन, अन्तरविरोध बन जाता है बिल गेट्स बनाम 'जनता', जॉर्ज सोरोस बनाम 'जनता', 'फ़ार्मा कम्पनियाँ' बनाम 'जनता', 'डीप स्टेट' बनाम 'जनता', 'बैंक्स' बनाम 'जनता', इत्यादि।

षड्यंत्र सिद्धान्त की टटपुँजिया बुद्धिजीवियों और टटपुँजिया जनसमुदायों की बीच अपील होने का एक कारण यह भी है कि उनके भीतर बुर्जुआ व्यक्तिवाद व कल्ट की विचारधारा गहराई से जड़ जमाए होती है। उनकी सहज वर्ग प्रवृत्ति होती है कि वे संरचनात्मक वर्गीय शक्तियों के बीच अन्तरविरोध को देखने की बजाय, इतिहास को कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों तथा 'जनता' के बीच अन्तरविरोध के तौर पर देखते हैं, जिसमें कि 'जनता' इन शक्तिशाली व्यक्तियों की साज़िश का शिकार होती है और वह यह जानती तक नहीं है कि वह साज़िश की शिकार है! यह तो कुछ षड्यंत्र सिद्धान्तकार होते हैं जो इस सच्चाई को समझ जाते हैं!

आज की दुनिया में षड्यंत्र सिद्धान्त और उसकी कुछ सामान्य विशिष्टताएँ

षड्यंत्र सिद्धान्तों के इतिहास में काम करने वाले तमाम अध्येताओं ने दिखलाया है कि षड्यंत्र सिद्धान्तों का स्वर्ण युग पूँजीवाद के साथ शुरू होता है, हालाँकि इनके इतिहास को हम मध्ययुग से ही देख सकते हैं। आरम्भिक मध्ययुग में ही 'नाइट्स टेम्प्लार', यहूदियों, 'इल्यूमिनाटी', फ्रीमेसनरी आदि को लेकर बहुत से षड्यंत्र सिद्धान्त अस्तित्व में आने लगे थे, जिन सबके पीछे ठोस सामाजिक अन्तरविरोध मौजूद थे। इसके पूरे इतिहास को जानने के लिए आप डेनियल पाइप्स के शोध को पढ़ सकते हैं, क्योंकि हम यहाँ इसके विस्तार में नहीं जा सकते हैं। लेकिन अपने समकालीन पूँजीवादी विश्व में हम तमाम षड्यंत्र सिद्धान्तों को देख सकते हैं।

जब ब्रेक्ज़िट के लिए जनमत संग्रह हो रहा था तो 28 प्रतिशत लोगों को लगता था कि ब्रिटेन का 'डीप स्टेट' इस जनमत संग्रह में घोटाला कर देगी और ब्रेक्ज़िट नहीं होगा। बताने की आवश्यकता नहीं है कि इसमें से अधिकांश दक्षिणपंथी टटपुँजिया आबादी थी, जोकि वहां की दक्षिणपंथी पार्टी यूकेआईपी (UKIP) के समर्थक थे। 26 प्रतिशत लोगों का मानना था कि वे दावे से नहीं कह सकते कि जनमत संग्रह में घोटाला होगा या नहीं। यानी 'डीप स्टेट' एक षड्यंत्र के ज़रिये इस प्लेबिसाइट में गड़बड़ करने वाली थी। अभी भी कई लोगों का मानना है कि गड़बड़ की गयी थी। हालाँकि यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ऐसा कुछ नहीं हुआ था। ब्रेक्ज़िट के पूरे प्रकरण में जो हुआ, उसे वर्ग शक्तियों के सन्तुलन से समझाया जा सकता है, उसके लिए किसी षड्यंत्र सिद्धान्त का सहारा लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार शार्ली एब्दो गोलीकाण्ड को मोसाद व सीआईए की साज़िश बताया गया था। कुछ षड्यंत्र सिद्धान्तकारों को मानना है कि चाँद पर कभी मनुष्य उतरा ही नहीं है और अमेरिका ने वह दृश्य हॉलीवुड में बनाया था। इसी प्रकार, बहुत-से षड्यंत्र सिद्धान्त हैं जो कि आज की दुनिया में प्रचलित हैं। फिलहाल, कोरोना को षड्यंत्र बताने वाले बहुत से लोग षड्यंत्र सिद्धान्तों के बाज़ार में अपनी-अपनी फेरी लगाकर बैठे हुए हैं! मज़ेदार बात यह है कि इनमें से कई "मार्क्सवादी" होने का दावा भी करते हैं!

जो बातें सभी षड्यंत्र सिद्धान्तों में साझा दिखती हैं वे इस प्रकार हैं:

ये इस अन्तरविरोध पर केन्द्रित करते हैं: मुट्ठी भर बुरे, शैतानी, कुलीन अति धनाढ्य लोग बनाम 'जनता'। दूसरा, कारपोरेशनों व उनके इशारों पर काम करने वाले 'डीप स्टेट' का रहस्यमयी हस्तक्षेप। तीसरा, 'जनता' भेड़ों के समान इन षड्यंत्रकारियों द्वारा ठगी जाती रहती है और ये तो केवल कुछ प्रबुद्ध षड्यंत्र सिद्धान्तकार हैं, जो वह सच्चाई देख लेते हैं, जिन्हें देखने की आज्ञा 'जनता' को नहीं होती है।

जिस देश में आम तौर पर मेहनतकश वर्गों का अज्ञान जितना अधिक गम्भीर होता है, वहाँ पर इन सिद्धान्तों में भरोसा करने वाले उतने ज़्यादा होते हैं। मसलन, अमेरिका में 2.2 करोड़ लोग मानते हैं कि चाँद पर उतरना वास्तव में नकली था; 16 करोड़ लोगों का मानना है कि जॉन एफ़. केनेडी को 'डीप स्टेट' ने मारा था; 37 प्रतिशत अमेरिकी मानते हैं कि 'ग्लोबल वॉर्मिंग' एक फ़र्ज़ी बात है और 28 प्रतिशत लोग मानते हैं कि कोई गोपनीय सत्ताधारी वैश्विक कुलीन वर्ग है जो कि एक वैश्विक षड्यंत्र के ज़रिये पूरी दुनिया में एक सर्वसत्तावादी सरकार बनाना चाहता है।

क्या दुनिया में साज़िशें होती हैं?

ज़ाहिरा तौर पर, दुनिया में वास्तविक साज़िशें भी हुई हैं। मिसाल के तौर पर 1964 की 'गल्फ़ ऑफ टोंकिन' घटना जिसने अमेरिका को वियतनाम युद्ध में सीधे हस्तक्षेप का मौक़ा दिया;

1931 की मुकदेन घटना जिसने जापान को मंचूरिया पर हमले का अवसर दिया; 1939 की 'ग्लाइविट्ज़ घटना' जिसने नात्सियों को पोलैण्ड पर हमला करने का अवसर दिया। लेकिन ये षड्यंत्र अपने आप में कुछ भी व्याख्यायित नहीं करते। उल्टे इनकी व्याख्या व्यक्तियों के इरादों के आधार पर नहीं की जा सकती है बल्कि उन ढाँचागत कारकों के आधार पर की जा सकती है, जिसे हम राजनीतिक वर्ग संघर्ष का नाम देते हैं। वर्ग अन्तरविरोधों के तीव्र होते जाने के साथ एक ऐसी मंजिल आती है जबकि उनका समाधान करने के लिए किसी उथल-पुथल की आवश्यकता होती है, जो युद्ध या क्रान्ति या गृहयुद्ध हो सकता है। ऐसे में, कई बार आकस्मिक घटनाएँ वे 'टिपिंग प्वाइण्ट' या 'ट्रिगर' साबित होती हैं, जो इस प्रकार की उथल-पुथल को शुरू कर देती हैं, जैसे कि हंगरी के राजकुमार की हत्या जिसने पहले विश्वयुद्ध की शुरुआत कर दी।

लेकिन कई बार ऐसी कोई आकस्मिक घटना घटित नहीं होती है, जिस सूरत में जो वर्ग राजनीतिक रूप से ज़्यादा संगठित होता है, वह केवल तात्कालिक ट्रिगर के तौर पर कोई साज़िश भी रच सकता है। लेकिन दोनों ही सूरत में साज़िश अपने आप में कुछ भी नहीं बताती या किसी भी ढाँचागत कारक की व्याख्या नहीं करती। उल्टे किसी विशेष बिन्दु पर कुछ विशेष व्यक्तियों या सरकारों ने कोई विशेष षड्यंत्र क्यों रचना, स्वयं इसकी व्याख्या ढाँचागत कारकों के द्वारा की जानी होती है। अन्यथा हमारे पास एक ही रास्ता बचता है कि हम इनकी व्याख्या व्यक्तिगत प्रेरणाओं के आधार पर करें, जिसे सही अर्थों में हम विश्लेषण या व्याख्या कह भी नहीं सकते हैं!

षड्यंत्र सिद्धान्त वास्तव में वर्ग संघर्ष पर आधारित वैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव में पैदा होते हैं। इस बात को तमाम उत्कृष्ट अध्येताओं ने इतिहास के तथ्यों व प्रमाणों समेत सिद्ध किया है कि जिन दौरों में शासक वर्गों के विरुद्ध प्रगतिशील व क्रान्तिकारी वर्ग शक्तियां पराजित हुई हैं, उन्हीं दौरों में षड्यंत्र सिद्धान्त इधर-उधर कुकुरमुत्ते की तरह बड़े पैमाने पर उग आते हैं। उनकी लोकप्रियता ऐसे दौरों में इसलिए बढ़ती है क्योंकि लोगों के पास वास्तविक वैज्ञानिक विश्लेषण तक पहुँच नहीं होती है और वास्तविकता निराशाजनक और रहस्यमयी दिखती है। षड्यंत्र सिद्धान्त पराजय और विपर्यय के दौर में पैदा होने वाली एक फ़ेटिश के समान होती है। वर्ग संघर्षों के तीव्र होने के दौर में लोग उन वास्तविक कारकों व शक्तियों को देखने में समर्थ हो जाते हैं जिनके अन्तरविरोध के कारण इतिहास गतिमान होता है। वे अपने जीवन और सामाजिक जीवन को भी बेहतर समझ पाते हैं और उनकी व्याख्या के लिए उन्हें किसी षड्यंत्र सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं होती है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि कमज़ोरी और हार के दौरों में, सिद्धान्त और व्यवहार के बीच एक अन्तर पैदा हो जाता है।

षड्यंत्र सिद्धान्त: व्यवस्था के प्रति रोष, अलगाव और पराजयबोध की अवैज्ञानिक व अज्ञानतापूर्ण टटपुँजिया अभिव्यक्ति

षड्यंत्र सिद्धान्त राज्यसत्ता और पूँजी के प्रति कोई दयनीय स्वीकारोक्ति नहीं है, बल्कि यह उससे नफ़रत, शिकायत और उससे अलगाव की एक अभिव्यक्ति है, लेकिन विचारधारात्मक व विकृत रूप में, न कि वैज्ञानिक रूप में। वे वास्तविक वैज्ञानिक विश्लेषण के एक प्लेसीबो या स्थानापन्न के रूप में काम करती हैं, और आम जनसमुदायों द्वारा अपनी मौजूदा बेबसी या शक्तिहीनता को "समझने" या "व्याख्यायित" करने की एक कोशिश होते हैं। चूँकि वे व्यवस्था-विरोधी दिखते हैं इसलिए आम लोगों के एक हिस्से को वे प्रभावित करते हैं, क्योंकि ऐसे लोग सत्ता के प्रति असन्तोष, ग़ुस्सा व नाराज़गी रखते हैं। लेकिन चूँकि ये सिद्धान्त सामाजिक यथार्थ से कटे होते हैं इसलिए उनके आधार पर कोई राजनीतिक कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता है। यह एक प्रकार से सबवर्सिव रूप में टटपुँजिया वर्गों द्वारा हार का स्वीकार होते हैं; इस बात का स्वीकार कि हम यथार्थ को नहीं समझते, उसका वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं कर सकते, हालाँकि हम यथास्थिति से रुष्ट व असन्तुष्ट हैं।

षड्यंत्र सिद्धान्तों का नज़रिया एक ऐसी दुनिया का नज़रिया है जिसमें सबकुछ कुछ शक्तिशाली लोगों/गिरोहों द्वारा निर्धारित किया जाता है और किसी अन्य के पास कोई अभिकरण नहीं होता है। वास्तव में षड्यंत्र सिद्धान्त इस रूप में क्रान्तिकारी विज्ञान यानी मार्क्सवाद की एक घटिया पैरोडी होते हैं। ये क्रान्तिकारी सिद्धान्त से यह समानता रखते हैं कि ये मानते हैं कि दुनिया में असमानता और अन्याय का बोलबाला है। लेकिन वे पैरोडी हैं क्योंकि वे वर्गीय शक्तियों के बीच व्यापक पैमाने पर जारी संरचनात्मक अन्तरविरोध के जटिल यथार्थ का एक बचकाना, घटिया और मूर्खतापूर्ण सरलीकरण करके उसे कुछ लोगों/गिरोहों की इच्छा से संचालित कठपुतली बना देते हैं। इस प्रस्तुति में राज्यसत्ता में बैठे शासक वर्ग के फ़ंक्शनरी स्वयं मनुष्य, कमज़ोर, त्रुटियाँ करने वाले या अयोग्य कभी नहीं नज़र आते बल्कि वे सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान, त्रुटियों से परे और योग्यतम होते हैं। इस रूप में षड्यंत्र सिद्धान्त निराशा, अकर्मण्यता और पराजय के स्वीकार का तर्कपोषण भी बन जाते हैं। वे शक्तिहीनता के अहसास को बढ़ावा देते हैं, लेकिन रोमांचक तरीके से! क्योंकि षड्यंत्र करने वाली शक्तियाँ इतनी शक्तिशाली और परफ़ेक्ट हैं कि दुनिया को बदलने का प्रयास भी करने का कोई तुक नहीं रह जाता है।

वजह यह है कि षड्यंत्र सिद्धान्त पूँजीवाद द्वारा ढाँचागत तौर पर अंजाम दी जाने वाली घटनाओं व परिघटनाओं को एक छोटे से गिरोह के सचेतन षड्यंत्र के रूप में देखते हैं। संकट के दौरों में व्यवस्था व शासक वर्गों के प्रति अविश्वास में आप वास्तविक विश्लेषण के अभाव, वर्ग संघर्ष में पराजय व विपर्यय को मिला

दें, तो आपको नतीजे के तौर पर विविध प्रकार के षड्यंत्र सिद्धान्त प्राप्त होंगे।

कोरोना षड्यंत्र सिद्धान्त के विषय में कुछ बातें

अन्त में, आज के दौर में सबसे ज़्यादा प्रचलित और सम्भवत: समकालीन पूँजीवादी विश्व के सबसे मूर्खतापूर्ण षड्यंत्र सिद्धान्तों में से एक पर संक्षिप्त चर्चा करना उपयोगी होगा। यह है कोरोना महामारी के एक षड्यंत्र होने का षड्यंत्र सिद्धान्त। मज़ेदार बात यह है कि कुछ अपढ़ "मार्क्सवादी" षड्यंत्र सिद्धान्त का खोमचा लगाये बैठे हैं!

दुनिया में कोरोना को होक्स व षड्यंत्र बताने वाले लोगों का 95 प्रतिशत हिस्सा दक्षिणपंथी व दक्षिणपंथी समर्थक समूह हैं। इनमें वैक्सीनेशन विरोधियों से लेकर, 5जी कोरोना सिद्धान्तकार और कोरोना को जेफ बेज़ोस, जॉर्ज सोरोस, बिल गेट्स आदि का षड्यंत्र बताने वाले मूर्ख और अवैज्ञानिक लोग भरे हुए हैं। ऐसे ही लोगों में हमारे देश के दक्षिणपंथी टटपुँजिया समूहों के अलावा कुछ तथाकथित वामपंथी व मार्क्सवादी भी शुमार हैं। विदेशों में भी इस प्रकार के कुछ षड्यंत्र सिद्धान्तकार "मार्क्सवादी" जैसे कि चोसुदोव्स्की जैसे लोग मौजूद हैं। लेकिन पूरी दुनिया में ही जेनुइन मार्क्सवादी व्यक्ति, ग्रुप, संगठन व पार्टी इस प्रकार के दृष्टिकोण और दक्षिणपंथियों के ख़िलाफ़ खड़े हैं।

लेकिन कोरोना महामारी के षड्यंत्र सिद्धान्तों का भी एक भौतिक आधार है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि सभी षड्यंत्र सिद्धान्तों का एक भौतिक आधार होता है। जब कोरोना फैला तब से ही बहुत से लोगों में इस बीमारी के जानलेवा होने, इसके तेज़ी से फैलने और इसके मूल को लेकर तमाम सवाल पैदा हो गये थे। दुनिया भर में कई देशों के सरकारों द्वारा इस पर बेहद ढीली प्रतिक्रिया दिये जाने को लेकर भी लोग तरह-तरह की अटकलबाजियाँ कर रहे थे। ऐसे में जो भ्रम की और नाराज़गी की पूरी स्थिति बनी, उसमें यह बिल्कुल भी ताज्जुब की बात नहीं थी कि कई ऐसे 'सिद्धान्त' पैदा हो गये, जोकि वैज्ञानिक 'आम सहमति' के विपरीत इस महामारी की कोई रोमांचक 'व्याख्या' पेश कर रहे थे। मीडिया और शासक वर्ग के अन्य प्रसारण माध्यमों के प्रति जनता का अविश्वास पुराना है। मसलन, 40 प्रतिशत से ज़्यादा ब्रिटिश लोग बीबीसी पर भरोसा नहीं करते, लगभग आधे अमेरिकन सीएनएन व फ़ॉक्स न्यूज़ आदि पर भरोसा नहीं करते। और ज़ाहिरा तौर पर इसकी वजह है क्योंकि ये पूँजीवादी माध्यम जनता को शासक वर्ग और व्यवस्था के बारे में प्रातिनिधिक सच्चाइयाँ नहीं बताते हैं और उसके पक्ष में अफ़वाहें फैलाने और गुमराह करने की हद तक जाते हैं। ऐसे में, कोरोना महामारी के विषय में भी तमाम षड्यंत्र सिद्धान्तों का पैदा होना स्वाभाविक ही था, विशेष तौर पर टटपुँजिया जनसमुदायों और उसमें भी दक्षिणपंथ के सामाजिक आधार के बीच में।

एक षड्यंत्र सिद्धान्त यह है कि यह फार्मा कम्पनियों की साज़िश थी कि वे कोरोना वायरस का होक्स पैदा करें और फिर अपने पीपीई किट्स, दवाएं और वैक्सीन बेचें। लेकिन आप स्वयं समझ सकते हैं कि यह कैसी बकवास बात है। दुनिया भर के तमाम देशों के पूँजीपति वर्ग में पहले तो वैश्विक पैमाने पर ऐसा कोई होक्स खड़ा करने के लिए एक अविश्वस्नीय स्तर की आम सहमति होनी चाहिए। ऐसा कोई भी षड्यंत्र सिद्धान्त स्पष्ट तौर पर पूँजीवादी विश्व के चरित्र को बिल्कुल नहीं समझता है। दूसरी बात, समूचे पूँजीपति वर्ग के एक हिस्से, यानी फ़ार्मा कम्पनियों को अतिलाभ पहुंचाने के लिए, समूचा पूँजीपति वर्ग अपने पांव पर कुल्हाड़ी क्यों मारेगा? ज़ाहिर है कि कोरोना महामारी को पहले गम्भीरता से न लेने के बाद आनन-फानन में तमाम पूँजीवादी देशों को जिस प्रकार जनविरोधी तौर-तरीकों का इस्तेमाल करते हुए लॉकडाउन लागू करना पड़ा, उसने पहले से संकट के भंवर में फँसी विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का भट्ठा बैठा दिया। ऐसे में, समूची बुर्जुआजी और उसकी नुमाइन्दगी करने वाली समस्त राज्यसत्ताओं में ऐसी आम सहमति कैसे बन सकती है? हर संकट कुछ मुट्ठी भर इज़ारेदारों और विशेष सेक्टरों के पूँजीपति वर्ग के लिए सौग़ात लेकर आता है। मौजूदा कोरोना महामारी से गहराए संकट ने भी आईटी सेक्टर, ऑनलाइन रीटेल सेक्टर, फार्मा सेक्टर के कुछ पूँजीपतियों की परिसम्पत्तियों में भारी बढ़ोत्तरी की। क्या इससे यह सिद्ध होता है कि कोरोना और लॉकडाउन इज़ारेदार पूँजीपतियों की साज़िश थी? यह भी उतनी ही प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बात होगी। क्योंकि राज्यसत्ता कुछ पूँजीपतियों के वैयक्तिक हितों के लिए नहीं, बल्कि पूँजीपति वर्ग के एक वर्ग के तौर पर सामूहिक हितों की नुमाइन्दगी करती है, और इसी से पूँजीवादी राज्यसत्ता की सापेक्षिक स्वायत्तता का मार्क्सवादी सिद्धान्त भी पैदा होता है। वह कई बार कुछ वैयक्तिक पूँजीपतियों के हितों के विपरीत कदम भी उठा सकती है, यदि पूँजीपति वर्ग के सामूहिक वर्ग हितों की सेवा करने के लिए यह अनिवार्य हो जाये। कोरोना महामारी का विश्व पूँजीवाद पर क्या असर पड़ा है यह कुछ विशेष सेक्टरों के टॉप के 25 पूँजीपतियों की परिसम्पत्तियों में इज़ाफ़े से नहीं पता चलता है। यह समूचे पूँजीपति वर्ग और समूची पूँजीवादी व्यवस्था पर पड़ने वाले असर से जाहिर होता है, यानी देश के स्तर पर राष्ट्रीय औसत मुनाफ़ा दर या वैश्विक औसत मुनाफ़ा दर। यदि आप इस मानक को देखें तो आप सीधे तौर पर देख सकते हैं कि कोरोना से पहले और उसके बाद विश्व अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण षड्यंत्र सिद्धान्त वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था को दोषमुक्त भी करते हैं क्योंकि इनके अनुसार मौजूदा संकट के लिए जेफ बेज़ोस, जॉर्ज सोरोस, बिल गेट्स, फ़ार्मा कम्पनियाँ आदि ज़िम्मेदार हैं और अगर इस कचड़े का सफ़ाया हो जाये तो व्यवस्था परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है। बेशक,

हमारे मूर्ख षड्यंत्र सिद्धान्तकारों का अक्सर यह इरादा नहीं होता है। लेकिन उनके सिद्धान्तों का तार्किक नतीजा यही होता है।

कोई वजह है कि पूरी दुनिया में पूँजीवादी मीडिया ने ऐसे षड्यंत्र सिद्धान्तों को ख़ारिज करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया है। वहीं यदि कोई ऐसा स्कैण्डल कभी सामने आता है जो वाकई पूँजीपति वर्ग और समूची पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र को उजागर करता है, तो उसको छिपाने या उसका खण्डन करने में पूरा मीडिया दिनों-रात लगा रहता है।

इसलिए सभी समझदार लोगों षड्यंत्र सिद्धान्तों से दूर ही रहना चाहिए। वर्ग समाज और पूँजीवादी व्यवस्था की मार्क्सवादी समझदारी के ज़रिये हम थोथे को उड़ा सकते हैं और काम की चीज़ों की पहचान कर सकते हैं। हम कोरोना षड्यंत्र, इल्युमिनाटी, नाइट्स टेम्प्लार, 5जी षड्यंत्र जैसे बकवास और बेमतलब की बातों को छाँट सकते हैं और उन वास्तविक तथ्यों की पहचान कर सकते हैं जो कि पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था की ज़िम्मेदारी को जनता के सामने उघाड़ कर रख सकते हैं। जो दिखा सकते हैं कि सवाल कुछ शक्तिशाली बुरे लोगों, कारपोरेशनों आदि का नहीं है, बल्कि समूची व्यवस्था का है, जोकि इसी प्रकार बनी है कि व्यापक मेहनतकश अवाम का शोषण करे और चक्रीय संकट का शिकार हो, जो पर्यावरणीय तबाही पैदा करे, महामारियों को जन्म दे और मनुष्यता को बर्बरता की ओर धकेले। यह कुछ बुरे, शैतानी, शक्तिशाली लोगों का षड्यंत्र नहीं है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो ढाँचागत तौर पर और अपने आन्तरिक तर्क से ही मेहनतकश वर्गों के आर्थिक शोषण, राजनीतिक व सामाजिक दमन व उत्पीड़न पर खड़ी है। यह किस प्रकार होता है यदि हम यह समझ जायें तो हमें षड्यंत्र सिद्धान्तों जैसे फ़ैण्टास्टिक और हास्यास्पद विचारों की कोई ज़रूरत नहीं होगी, जैसे सुनियोजित महामारी, नकली महामारी, इज़ारेदार कम्पनियों द्वारा खड़ा किया गया होक्स, इत्यादि।

मार्क्सवाद बिना किसी षड्यंत्र सिद्धान्त के यह दिखलाता है कि मौजूदा व्यवस्था की अराजकता, उथल-पुथल, आपदाएँ इस व्यवस्था की व्यवस्थागत परिणतियाँ हैं, किसी शक्तिशाली अल्पसंख्या का षड्यंत्र नहीं। मार्क्सवाद दिखलाता है कि किस प्रकार इस सारे गड्डमड्ड के पीछे एक सुसंगत तर्क है, मुनाफ़े का तर्क, मज़दूर वर्ग के शोषण का तर्क, माल उत्पादन और माल अन्धभक्ति का तर्क और पूँजीवादी बाज़ार का तर्क जो कि उथल-पुथल भरे समतलीकरण (turbulent equibration) पर आधारित है और एक ऐसी व्यवस्था से आप नियमित तौर पर पर्यावरणीय तबाही, महामारी, युद्ध, आपदाओं आदि की ही उम्मीद कर सकते हैं। जो साज़िशें भी होती हैं, वे इसी प्रणाली का अंग होती हैं और अपने आप में किसी चीज़ की व्याख्या नहीं करती हैं और न ही किसी चीज़ का मूलभूत कारण होती हैं, बल्कि वे लक्षण होती हैं और उनकी व्याख्या की जानी होती हैं।

इसलिए हमें वैज्ञानिक मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, न कि षड्यंत्र सिद्धान्तों का शिकार होना चाहिए। वैज्ञानिक मार्क्सवादी दृष्टिकोण ही हमें मौजूदा व्यवस्था और समाज की सही समझ भी दे सकता है और उन्हें बदलने का सही रास्ता भी दिखला सकता है।

शिक्षा पर कॉरपोरेट पूँजी के शिकंजे को क़ानूनी जामा पहनाने की कवायद

(पेज 22 से आगे)

पाठ्यक्रम, प्रशासनिक व्यवस्था, फ़ीस आदि चीज़ों को निर्धारित करने की स्वायत्तता रहेगी, इस प्रकार निजी विश्वविद्यालयों पर सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं रहेगा जिसका सीधा मतलब है कि इन निजी विश्वविद्यालयों के दरवाज़े आम मेहनतकश वर्ग से आने वाले लोगों के लिए हमेशा के लिए बन्द हो जायेंगे।

मध्य वर्ग के जो छात्र पैसे के दम पर प्राइवेट शिक्षा की सुविधा लेकर उच्च शिक्षा हासिल भी कर लेंगे उनके लिए भी भविष्य का संकट मुँह खोले बैठा है। एमएससी, पीएचडी, पोस्ट-डॉक्टोरेट करने वाले देश के बहुत से छात्र यदि अपनी प्रतिभाओं का इस्तेमाल सही दिशा में करने का मौक़ा मिले तो कुछ नया कर सकते है पर आज इनमें से अधिकतर को अपनी डिग्रियाँ लेने के बाद बैंक, रेलवे, एलआईसी आदि की टेबल नौकरियों के लिए मारामारी करते, और बेरोज़गारी के भेड़ियाधँसान में एक अदद ढंग की नौकरी के लिए मशक़्क़त करते हुए अपने भाग्य को कोस रहे है। इन मेधावी छात्रों की वर्षों की मेहनत पर इससे भद्दा मज़ाक़ क्या होगा कि देश का फ़र्ज़ी डिग्रीधारी प्रधानमंत्री इन्हें पकौड़ा तलने की नसीहत दे। ऑटोनॉमी के नाम पर निजीकरण और विभिन्न ज़रूरी प्रोजेक्ट्स से पल्ला झाड़ते हुए उन्हें सेल्फ फ़ण्डिंग की सूची में डालना, फ़ेलोशिप में भारी कटौती करना, उच्च शिक्षा का दरवाज़ा देशी और विदेशी पूँजीपतियों के लिए खोलना, देर-सबेर उच्च शिक्षा को भी उसी दलदल में पहुँचा देगा जहाँ प्राथमिक शिक्षा का तंत्र है।

शिक्षा, चिकित्सा, रोज़गार और अन्य नागरिक अधिकारों को लेकर चलने वाले आन्दोलनों पर सरकारें जिस तरह से डण्डा बरसाने का काम कर रही हैं उससे यह स्पष्ट है कि हमारे देश में सत्ता का दमनकारी चरित्र दिन प्रति दिन और ख़ूँख़ार होता जा रहा है। ऐसे में शिक्षा-रोज़गार की लड़ाई को आम जनता की लड़ाई से जोड़े बग़ैर नहीं जीता जा सकता है।

विशेष सामग्री

अक्तूबर क्रान्ति और रूसी साम्राज्य की दमित क़ौमों की मुक्ति के विषय में ट्रॉट-बुण्डवादियों के विचार: अपढ़पन का एक और नमूना

अभिनव

हाल ही में, 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के रूप में आन्दोलन में एक ऐसी रुझान पैदा हुई है, जिसने क़ौमी सवाल पर **बुण्डवादी-क़ौमवादी अवस्थिति और त्रॉत्स्कीपन्थी अवस्थिति का एक विचित्र मिश्रण** पैदा किया है। इन्हीं को हम इस लेख में ट्रॉट-बुण्डवादी की संज्ञा दे रहे हैं। इस रुझान की विस्तृत आलोचना 'आह्वान' पत्रिका की ओर से यहाँ पेश की गयी है:

http://ahwanmag.com/archives/7567

मौजूदा लेख में हम ट्रॉट-बुण्डवादियों के इस दावे की पड़ताल कर रहे हैं कि अक्तूबर क्रान्ति के साथ रूसी साम्राज्य की दमित क़ौमों में भी समाजवादी क्रान्ति हुई और समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में आये। हम देखेंगे कि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों की रूसी क्रान्ति और उसके द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के पूरे इतिहास की पढ़ाई शून्य के बराबर है और वह बेख़याली में अहमकाना दावे कर रहे हैं।

इस लेख में हम तथ्यों और प्रमाणों के साथ देखेंगे कि रूसी साम्राज्य की हरेक दमित क़ौम में अक्तूबर क्रान्ति के साथ क़ौमी आज़ादी का सवाल हल हुआ और वहाँ किसी न किसी क़िस्म के जनवादी गणराज्य (जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य) अस्तित्व में आये, न कि वहाँ पर समाजवादी क्रान्ति के साथ समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में आये। इन तमाम दमित क़ौमों में समाजवादी गणराज्यों की स्थापना क़ौमी आज़ादी की मंजिल पूरी होने के बाद 1919-20 से लेकर 1940 तक होती रही और वे अलग-अलग समय पर सोवियत संघ में शामिल हुए।

राष्ट्रवादी विचलनकारियों का मानना है कि साम्राज्यवाद के युग में बहुक़ौमी देशों में दमित क़ौमों की आज़ादी सीधे समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये होती है, न कि राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के द्वारा। यानी **ट्रॉट-बुण्डवादियों के अनुसार, ऐसे बहुक़ौमी देशों में दमित क़ौमें सीधे समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में होती हैं, बशर्ते कि उनमें सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की प्रधानता न हो! यानी, अगर राष्ट्रीय दमन हो, तो भी सीधे समाजवादी क्रान्ति द्वारा ही राष्ट्रीय जनवादी और समाजवाद दोनों का ही प्रश्न हल कर दिया जाता है!**

इन **राष्ट्रवादी विचलनकारियों का यह भी मानना है कि क़ौमी दमन बुर्जुआजी के किसी हिस्से के दमन के बिना भी सम्भव है!** यानी कि सिर्फ़ जनता के दमन को क़ौमी दमन माना जा सकता है, भले ही उस क़ौम की बुर्जुआजी का कोई हिस्सा दमित न हो! ऐसे ढेरो मूर्खतापूर्ण विचारों की ढेरी हमारे क़ौमवादियों ने लगा दी है। इनकी आलोचना हम पहले ही पेश कर चुके हैं, जिसका लिंक हमने ऊपर दिया है। जनता और क़ौम के बीच अन्तर न समझना बुनियादी मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को भूलना है, लेकिन इस मामले में सवाल भूलने का नहीं है, क्योंकि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों ने मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद का अध्ययन ही नहीं किया है!

यहाँ हम एक विशेष मुद्दे पर राष्ट्रवादी विचलनकारियों की अवस्थिति की आलोचना पेश करेंगे क्योंकि इसके ज़रिये हमारे ये क़ौमवादी बंधु काफ़ी धुँध फैला रहे हैं।

मुद्दा यह है कि रूस में अक्तूबर 1917 में समाजवादी क्रान्ति के बाद क्या दमित क़ौमों में भी सीधे समाजवादी क्रान्ति हुई थी और क्या वहाँ भी सीधे समाजवादी व्यवस्था व समाजवादी गणराज्य की स्थापना हो गयी थी? हमारे क़ौमवादियों का दावा है कि जब अक्तूबर क्रान्ति हुई, तो रूसी साम्राज्य में मौजूद सभी दमित क़ौमों में भी सीधे समाजवादी क्रान्ति ही हुई और सीधे समाजवादी गणराज्य की स्थापना हो गयी और इससे यह सिद्ध होता है कि बहुक़ौमी देशों में दमित क़ौमें सीधे समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में होती हैं और इन दमित क़ौमों में राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान भी सीधे समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये होता है! आइए देखते हैं कि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों की इतिहास के बारे में जानकारी किस भयंकर दरिद्रता में है और उनको क्या समझ नहीं आ रहा है। इतिहास के ठोस उदाहरणों से पहले बेहद संक्षेप में ट्रॉट-बुण्डवादियों के सैद्धान्तिक गड़बड़झाले पर निगाह डाल लेते हैं।

ट्रॉट-बुण्डवादियों का सैद्धान्तिक गड़बड़झाला

पहली बात तो यह है कि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी दमनकारी क़ौम और दमित क़ौम के लिए क्रान्ति की मंजिलों को गड्डमड्ड कर बैठे हैं। उन्हें लगता है कि यदि दमनकारी क़ौम की राज्यसत्ता समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है तो इससे स्वत: ही यह नतीजा निकलता है कि उसके द्वारा दमित क़ौमें भी सीधे समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में हैं! मिसाल के तौर पर, यदि कोई आज यह नतीजा निकाले कि चूंकि भारत समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, तो कश्मीर भी स्वत: ही समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, तो उसके बारे में क्या कहा जा सकता है? यह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी उसूलों को भी नहीं समझने के बराबर है।

न सिर्फ़ इतना हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी तो यह भी मानते हैं कि अगर दमनकारी क़ौम में भी अभी जनवादी क्रान्ति की मंजिल है, तो भी दमित क़ौमें सीधे समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये आज़ाद होंगी! हँसिये मत, हम सच बोल रहे हैं! इन्होंने अपनी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के ताज़ा अंक में क़ौमी सवाल पर पेश लेख में कहा है कि 1903 में ही पोलैण्ड समाजवादी क्रान्ति द्वारा आज़ाद होने वाला था, क्योंकि इन्हें लगता है कि जब मेहरिंग ने पोलैण्ड में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में 'सामाजिक क्रान्ति' की बात की तो उनका मतलब था कि अब पोलैण्ड में क़ौमी आज़ादी भी समाजवादी क्रान्ति द्वारा होगी! फिर से, हँसियेगा मत! ज़ाहिर है, हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी 'सामाजिक क्रान्ति' को समाजवादी क्रान्ति समझ बैठे हैं!

ज्ञात हो कि पोलैण्ड 1918 में आज़ादी से पहले रूस, ऑस्ट्रिया-हंगरी और जर्मनी में बंटा हुआ था। सबसे बड़ा हिस्सा रूस के अधीन था। **रूस और ऑस्ट्रिया-हंगरी दोनों में ही अभी जनवादी क्रान्ति नहीं हुई थी, या अभी जनवादी क्रान्ति के कार्यभार पूर्ण नहीं हुए थे। लेकिन हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों का मानना है कि 1903 में ही पोलिश सर्वहारा वर्ग को रूसी सर्वहारा वर्ग के साथ मिलकर रूस में समाजवादी क्रान्ति करनी थी, जोकि एक ही साथ, पोलैण्ड में भी समाजवादी क्रान्ति होती और पोलैण्ड की आज़ादी का सवाल भी हल कर देती!!! जब रूस स्वयं 1903 में जनवादी क्रान्ति की ही मंजिल में था, तो पोलैण्ड से पोलिश सर्वहारा आकर रूसी सर्वहारा के साथ मिलकर समाजवादी क्रान्ति कैसे कर देता? कौन-सी राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ कर देता? कैसा वर्ग मोर्चा बनता? किसके ख़िलाफ़ बनता? मित्र वर्गों के मोर्चे और शत्रु वर्ग के मोर्चे की क्या प्रकृति होती और वह किस प्रकार के रणनीतिक अन्तरविरोध को प्रदर्शित करती?** ज़ाहिर है, अपनी मूर्खतापूर्ण बातों को सिद्ध करने के लिए 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक यानी हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी महोदय अपना दिमाग़ी सन्तुलन खो बैठे हैं!

दूसरी बात, हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी एक ऐतिहासिक आकलन और एक राजनीतिक कार्यक्रम में अन्तर नहीं समझते हैं। मिसाल के तौर पर, यह कहने का, कि भारतीय पूँजीवादी राज्यसत्ता कश्मीर को क़ौमी आज़ादी का हक़ नहीं दे सकती है, यह केवल एक समाजवादी सर्वहारा राज्यसत्ता ही कर सकती है, जोकि समाजवादी क्रान्ति के द्वारा ही अस्तित्व में आ सकती है, यह अर्थ कोई बौड़म व्यक्ति ही निकाल सकता है कि कश्मीर में बिना क़ौमी सवाल के हल हुए सीधे समाजवादी क्रान्ति की मंजिल है।

लेनिन और स्तालिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद के युग में इस बात की गुंजाइश न के बराबर है कि दमनकारी क़ौमों की बुर्जुआजी अपनी इच्छा से दमित क़ौमों को क़ौमी आज़ादी का हक़ देगी। यह केवल अपवादस्वरूप स्थिति में हो सकता है, जैसे कि नॉर्वे व स्वीडन के मामले में हुआ था। इसीलिए लेनिन व स्तालिन का यह नतीजा था कि साम्राज्यवाद के युग में क़ौमी आज़ादी की लड़ाई की नियति समाजवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष से जुड़ चुकी है क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर समाजवाद के लिए संघर्ष में यह लड़ाई साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक संश्रयकारी शक्ति है। इसका यह अर्थ नहीं था कि इन सभी दमित क़ौमों में सीधे समाजवादी क्रान्ति होने वाली थी। इसका केवल यह अर्थ था कि राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति साम्राज्यवाद के युग में आम तौर पर *जनरल बुर्जुआ* डेमोक्रैटिक प्रक्रिया की बजाय जनरल समाजवादी प्रक्रिया का अंग बन चुकी है। यानी, यह कार्यभार भी आम तौर पर अपने आमूलगामी रूप में जनता के जनवादी क्रान्ति के रूप में सम्पन्न हो सकता है, दूसरे शब्दों में, मज़दूरों के नेतृत्व में पेटी बुर्जुआजी व समूची किसान आबादी को साथ लेकर आमूलगामी रूप में सम्पन्न हो सकता है।

यानी दमनकारी क़ौम की बुर्जुआजी द्वारा आत्मनिर्णय के अधिकार के दिये जाने की सम्भावनाओं के साम्राज्यवाद के दौर में समाप्त होते जाने के मूल्यांकन के साथ उनका यह भी मूल्यांकन था कि राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार भी अब दमित क़ौमों का बुर्जुआ वर्ग अपनी अगुवाई में कर पाने की क्षमता खोता जा रहा है और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को भी यदि आमूलगामी तरीक़े से अंजाम देना है, तो इसका नेतृत्व भी सर्वहारा वर्ग के हिरावल, यानी कम्युनिस्ट पार्टी को अपने हाथों में लेने का प्रयास करना चाहिए। यह दीगर बात है कि उनके इस मूल्यांकन के बावजूद, 1940 के दशक से 1980 के दशक तक तमाम दमित क़ौमों की आज़ादी की जो प्रक्रिया चली, उसमें से अधिकांश में नेतृत्व राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग ने किया। इससे लेनिन व स्तालिन का यह ऐतिहासिक मूल्यांकन सैद्धान्तिक तौर पर ग़लत तो नहीं साबित हुआ क्योंकि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जनता की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति द्वारा ये कार्यभार जितने आमूलगामी रूप से सम्पन्न हो सकते थे, वे बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में कहीं भी नहीं हुए। फिर भी, इतिहास ने दिखलाया कि अक्सर वह महानतम

समाज-वैज्ञानिकों से भी दो कदम आगे चलता है, जैसा कि स्वयं मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने भी कहा था।

साफ़ है कि यदि कोई लेनिन व स्तालिन के उपरोक्त मूल्यांकन का यह अर्थ निकालता है कि दमित क़ौमों में सीधे समाजवादी क्रान्ति की मंजिल है, विशेषकर बहुक़ौमी देशों के भीतर और जहाँ दमित क़ौमों में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास हो चुका है, तो यही कहा जा सकता है कि उसे लेनिन के 'राज्य और क्रान्ति' के सिद्धान्त, राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन के चिन्तन और दो चरणों में क्रान्ति के लेनिनवादी सिद्धान्त को ढंग से पढ़ने की आवश्यकता है। साथ ही, यह भी पता चलता है कि ऐसा व्यक्ति भयंकर त्रॉत्स्कीपन्थी विभ्रम के कीचड़ में फँसा हुआ है। हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी महोदय की यही स्थिति है।

यदि कोई क़ौम दमित है, तो वहाँ राज्यसत्ता के जनवादी रूपान्तरण का प्रश्न हल नहीं हुआ है। यदि यह प्रश्न हल नहीं हुआ है, तो उसके हल हुए बग़ैर समाजवादी क्रान्ति की बात करना मूर्खतापूर्ण है। क्रान्ति का प्रश्न मित्र वर्गों व शत्रु वर्गों की पहचान करने और मित्र वर्गों का रणनीतिक मोर्चा बनाने का प्रश्न होता है; जो वर्ग दमित व शोषित होते हैं, वे जनता का अंग होते हैं, और जो दमनकारी व शोषक होते हैं, वे शत्रु वर्गों में आते हैं। क़ौमी दमन की अवधारणा बुर्जुआजी के एक हिस्से के दमन के बग़ैर बेकार हो जाती है। बुर्जुआजी का जो हिस्सा दमित होता है, वे राष्ट्रीय बुर्जुआजी होता है और क़ौमी आज़ादी के सवाल के हल होने तक, यानी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति तक, क्रान्ति का मित्र वर्ग होता है। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि किसी ऐसी दमित क़ौम में जहाँ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध विकसित हो चुके हैं, राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार पूरे होने के बाद, जल्द ही समाजवादी क्रान्ति हो जाये, या उसकी स्थितियाँ पैदा हो जायँ।

यह राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग आम तौर पर बड़ा पूँजीपति वर्ग नहीं होता है। क़ौमी दमन के हालात में बड़ा पूँजीपति वर्ग अक्सर ही वाणिज्यिक व नौकरशाह होता है और दमनकारी क़ौम के शासक वर्ग का दलाल बन जाता है, क्योंकि दमनकारी क़ौम की बुर्जुआजी दमित क़ौम में कभी किसी बड़ी व शक्तिशाली औद्योगिक बुर्जुआजी को विकसित ही नहीं होने देता क्योंकि क़ौमी दमन का मूल ही घरेलू बाज़ार व संसाधनों पर क़ब्ज़े की लड़ाई है। नतीजतन, अक्सर ही राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की भूमिका में छोटा व मंझोला पूँजीपति वर्ग आता है, जिसमें कि गांव के धनी किसान भी शामिल होते हैं।

इनके लिए अपने घरेलू बाज़ार का सवाल सबसे अहम होता है और क़ौमी दमन के मूल में असल में घरेलू बाज़ार पर अधिपत्य जमाने का प्रश्न ही होता है। बेशक, इस घरेलू बाज़ार पर क़ब्ज़े के लिए दमनकारी क़ौम के शासक वर्ग को दमित क़ौम का राजनीतिक दमन करना पड़ता है, जिसकी अभिव्यक्ति अक्सर भाषाओं के दमन, आने-जाने की पाबन्दियों, धार्मिक प्रतिबन्धों, आदि में दिखलाई पड़ती है और इस तरह समूचे क़ौम को ही क़ौमी दमन अपने दायरे में ले लेता है। *लेकिन इसके मूल में दमित क़ौम की बुर्जुआजी और दमनकारी क़ौम के शासक वर्गों के बीच घरेलू बाज़ार और संसाधनों पर क़ब्ज़े की लड़ाई ही होती है।*

एक मिसाल से आप इसे समझ सकते हैं। जब डच लोगों का इण्डोनेशिया पर क़ब्ज़ा था, तो वहाँ के डच उपनिवेशवादियों के लिए बने सिनेमा हॉलों व थियेटरों पर यह नहीं लिखा होता था कि "यहाँ कुत्तों व इण्डोनेशिया के राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का आना मना है"! वहाँ बस यह लिखा होता था कि "यहाँ कुत्तों व इण्डोनेशियाई लोगों का प्रवेश वर्जित है।" **जब राजनीतिक तौर पर किसी क़ौम का दमन होता है, तो वह अनिवार्यत: समूची क़ौम को अपने दायरे में लेता है। लेकिन इसकी वजह से यह भूल जाना कि क़ौमी दमन की सारवस्तु और मूल वास्तव में दमित क़ौम की बुर्जुआजी का दमन है, क़ौमी दमन की पूरी अवधारणा को ही भूल जाने के समान है।**

तीसरी बात, हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों की यह समझ में नहीं आता कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार यानी अलग होने का अधिकार हर क़ौम का अधिकार है, चाहे उस क़ौम के बारे में आपका यह विश्लेषण ही क्यों न हो कि वह क़ौम दमित नहीं है। ज़ाहिर है, हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी उस अन्तर को नहीं समझते हैं, जिसे लेनिन ने बार-बार स्पष्ट किया था: अलग होने के अधिकार का समर्थन और अलग होने का समर्थन में अन्तर।

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार का अर्थ अलग होने के अधिकार के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता है, जैसाकि लेनिन ने बताया और अलग होने के अधिकार का समर्थन एक ऐसी सैद्धान्तिक अवस्थिति है, जिसे हम हर क़ौम के सन्दर्भ में बिना शर्त मानते हैं। इसे मानते हुए भी हम किसी क़ौम के अलग होने या न होने के रेफ़रेण्डम में यह वोट डाल सकते हैं कि वह क़ौम अलग न हो। **अलग होने के अधिकार का समर्थन हर सूरत में अलग होने का समर्थन नहीं है। इसी सन्दर्भ में लेनिन ने कहा था कि इसे समझने का सबसे बेहतर तरीक़ा है तलाक़ के रूपक से इसे समझना। हम मार्क्सवादी हर सूरत में हर व्यक्ति के लिए तलाक़ के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम हर सूरत में यह मानते हैं कि तलाक़ होना ही चाहिए। लेकिन जिन मामलों में हमारा यह मानना भी हो कि तलाक़ नहीं होना चाहिए, वहाँ भी हम तलाक़ के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करते हैं।** यह क़ौमी सवाल पर लेनिनवादी अवस्थिति का एक आधारभूत बिन्दु है, जिसे 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेता ट्रॉट-बुण्डवादी महोदय समझ नहीं पाते हैं।

अब हम रूसी क्रान्ति और रूसी साम्राज्य की दमित क़ौमों में क़ौमी आज़ादी के कार्यभार के पूरे होने के इतिहास पर आते हैं।

अभी हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी तमाम मौखिक चर्चाओं में ये दावे कर रहे हैं कि रूस की सभी दमित क़ौमों की क़ौमी आज़ादी का सवाल सीधे समाजवादी क्रान्ति द्वारा समाधित हुआ और इसीलिए वहाँ सीधे समाजवादी व्यवस्था आई। उन्हें लगता है कि रूस में समाजवादी क्रान्ति का अर्थ था कि सारी दमित क़ौमों में भी समाजवादी क्रान्ति हो गयी और समाजवादी गणराज्य की स्थापना हो गयी। यहाँ पर एक बार फिर से ट्रॉट-बुण्डवादियों ने दिखला दिया है कि उन्हें रूसी क्रान्ति के इतिहास के विषय में कोई जानकारी नहीं है। यदि आज भारत में समाजवादी क्रान्ति हो जाये और वह उत्तर-पूर्व की दमित क़ौमों और कश्मीरी क़ौम को आत्मनिर्णय का हक़ दे दे, तो इसका यह अर्थ नहीं होगा कि उत्तर-पूर्व की क़ौमें व कश्मीरी क़ौमों के लिए सीधे समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न हो गयी और *वहाँ पर* समाजवादी क्रान्ति ने क़ौमी सवाल हल कर दिया! इसको आगे हम रूस में समाजवादी क्रान्ति और दमित क़ौमों की आज़ादी के वास्तविक ऐतिहासिक अनुभव के जरिये समझेंगे क्योंकि ट्रॉट-बुण्डवादी महोदय इसी पर काफ़ी धुंध फैला रहे हैं।

रूसी क्रान्ति में भी दमित क़ौमों में जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ राष्ट्रीय गणराज्य ही पहले अस्तित्व में आये थे। जिन दमित क़ौमों के देशों में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास हो गया था, वहाँ भी पहले जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य ही अस्तित्व में आये थे। इन देशों में समाजवादी गणराज्य बाद में स्थापित हुए। पहले वे जनता के जनवादी या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य के एक दौर से गुज़रे। वे समाजवादी रूस के साथ पहले संघ में और बाद में यूनियन में शामिल हुए थे। आइए ऐतिहासिक तथ्यों व उदाहरणों से इस बात को समझा जाय।

समाजवादी अक्तूबर क्रान्ति और रूसी साम्राज्य की दमित क़ौमों में राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार का हल होना और ट्रॉट-बुण्डवादी महोदय का इतिहास के बारे में शर्मनाक अज्ञान

अक्तूबर 1917 में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सोवियत रूस अस्तित्व में आया और उसने अब तक मौजूद रहे ज़ारवादी रूसी साम्राज्य की सभी दमित क़ौमों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया। **जब इन दमित क़ौमों को यह अधिकार मिला तो क़ौमी सवाल हल हो गया और वहाँ पर समाजवादी शक्तियों या बुर्जुआ राष्ट्रवादी शक्तियों के नेतृत्व में या तो जनता के जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आये या फिर बुर्जुआ जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आये।**

इनमें से कुछ देशों में समाजवादी क्रान्ति के लिए भी बोल्शेविकों ने संघर्ष शुरू कर दिया और कुछ देशों में समाजवादी गणराज्य भी अस्तित्व में आ गये। इसमें 1918 से 1921 तक जारी गृहयुद्ध की भी एक भूमिका थी। इसके बाद, 1919 से लेकर मुख्य रूप से 1924 तक तमाम ऐसे देश जहाँ समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में आ चुके थे, वे सोवियत रूस से साथ पहले संघ और फिर संघीय यूनियन में शामिल होते रहे। इसी प्रक्रिया में सोवियत संघ अस्तित्व में आया। कुछ देश तो 1940 तक सोवियत संघ में शामिल हुए।

आइए, इस पूरे ऐतिहासिक घटनाक्रम का एक संक्षिप्त विवरण देख लें ताकि ट्रॉट-बुण्डवादियों द्वारा किये जा रहे इतिहास के विकृतिकरण को बेनक़ाब किया जा सके। वैसे, यह सचेतन विकृतिकरण की बजाय निपट अपढ़पन भी हो सकता है, क्योंकि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों ने मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों तक में भयंकर अज्ञान का पूरी निरन्तरता के साथ बार-बार प्रदर्शन किया है। इसके बारे में जानने के लिए आप निम्न लिंक देख सकते हैं: 1) http://ahwanmag.com/archives/7585; 2) http://ahwanmag.com/archives/7590

अब देखते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति के बाद तमाम दमित क़ौमों में क्या हुआ था।

अक्तूबर क्रान्ति के बाद सोवियत सरकार ने सभी दमित क़ौमों के आत्मनिर्णय के अधिकार को बिना शर्त स्वीकार किया। इसके तत्काल अमल के लिए राष्ट्रीयताओं की जनकमिसारियत (नार्कोमनाट्स) का गठन किया गया जिसके कमिसार ख़ुद स्तालिन थे। आरम्भ में ही **पोलैण्ड** के और फ़िनलैण्ड के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया। आगे हम अलग-अलग दमित क़ौमों में रूस में हुई समाजवादी क्रान्ति क़ौमी सवाल के हल होने और जनवादी गणराज्यों के अस्तित्व में आने पर संक्षिप्त निगाह डालते हैं, जिससे कि ट्रॉट-बुण्डवादियों के दिमाग़ में फैली धुन्ध कुछ साफ़ हो सके।

पोलैण्ड व फ़िनलैण्ड की आज़ादी और वहाँ जनवादी गणराज्यों की स्थापना

पोलैण्ड को रूस की समाजवादी सत्ता ने तत्काल राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार दिया और उसके बाद वहाँ पर बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की स्थापना हुई, जिसे *सेकण्ड रिपब्लिक ऑफ़ पोलैण्ड* के नाम से जाना गया।

18 (31) दिसम्बर को फ़िनलैण्ड की क़ौमी आज़ादी के प्रस्ताव को पेश किया गया और बिना शर्त स्वीकार किया गया। वहाँ पर एक बुर्जुआ गणराज्य अस्तित्व में आ गया। इसके साथ, बुर्जुआ राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार पूरा हो गया। यानी पहले चरण का कार्यभार पूरा हो गया। इसके तत्काल बाद ही, फ़िनलैण्ड के सामाजिक जनवादियों ने वहाँ मज़दूर क्रान्ति का प्रयास शुरू कर दिया क्योंकि फ़िनलैण्ड में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध पहले ही प्रधान बन चुके थे और क़ौमी दमन के सवाल के हल होते ही राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार पूरा हुआ और राज्यसत्ता के जनवादी रूपान्तरण का प्रश्न हल हो गया। इसीलिए वहाँ तत्काल ही समाजवादी क्रान्ति का संघर्ष भी शुरू हो गया। इस प्रयास के जवाब में फ़िनिश बुर्जुआजी ने दमन किया और उसमें जर्मन साम्राज्यवादियों की भी मदद ली। एक भयंकर

गृहयुद्ध के बाद अन्ततः फ़िनलैण्ड में बुर्जुआजी की विजय हुई और एक बुर्जुआ गणराज्य की स्थापना हुई और उसके सोवियत संघ से सम्बन्ध भी बहाल हुए।

ट्रांसकॉकेशिया: जॉर्जिया, आर्मेनिया, अज़रबैजान में जनवादी गणराज्यों की स्थापना

इसी प्रकार 1922 में ट्रांसकॉकेशिया में क्या स्थिति थी, उसका भी जायज़ा ले लेते हैं। ट्रांसकॉकेशिया में तीन क़ौमें थीं: जॉर्जिया, आर्मेनिया और अज़रबैज़ान।

आर्मेनिया में रूसी क्रान्ति के ठीक बाद एक **जनवादी गणराज्य** अस्तित्व में आया, जिसे **प्रथम गणराज्य** के नाम से भी जाना जाता है। **यह 1918 से 1920 तक मौजूद रहा।** इसके साथ ही आर्मेनिया में **राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार पूरा हो गया।** इसके बाद वहाँ बोल्शेविक सत्ता में आये और 1920 में वहाँ समाजवादी गणराज्य की स्थापना हुई। *इस प्रक्रिया में गृहयुद्ध की भी एक भूमिका थी, क्योंकि कई बुर्जुआ गणराज्य जोकि रूसी क्रान्ति के बाद तमाम दमित क़ौमों में अस्तित्व में आये थे, वे सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ थे और गृहयुद्ध में उनके ख़िलाफ़ लड़ रहे थे।* साथ ही, इन गणराज्यों के भीतर भी मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान कम्युनिस्टों के नेतृत्व में बुर्जुआ राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे। गृहयुद्ध में लाल सेना ने जब इन देशों को पराजित किया, तो बुर्जुआ सत्ता बेहद कमज़ोर हो गयी या उनका पतन हो गया और कम्युनिस्टों ने समाजवादी सोवियत गणराज्य का निर्माण किया।

इसी प्रकार **अज़रबैज़ान** में भी अक्तूबर क्रान्ति के तुरन्त बाद क़ौमी आज़ादी मिलने के साथ **बुर्जुआ जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आया जोकि 1920 तक कायम रहा। इसके साथ ही राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार यहाँ पूरा हो गया।** इसे **अज़रबैज़ान जनवादी गणराज्य** के नाम से जाना गया। इसकी बुर्जुआ सरकार ने भी गृहयुद्ध के दौरान अपने देश के बोल्शेविकों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया, क्योंकि लाल सेना के सामने भी उनकी पराजय हो रही थी।

जॉर्जिया में अक्तूबर क्रान्ति के बाद **जॉर्जिया का जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आया** जो कि **मई 1918 से फ़रवरी 1921 तक कायम रहा।** यहाँ राज्यसत्ता जॉर्जिया के मेंशेविकों के हाथों में आई, जो कि अपने आपको जॉर्जियन सामाजिक जनवादी पार्टी या जॉर्जियन मेंशेविक पार्टी कहते थे। यहाँ भी इसके साथ ही **क़ौमी आज़ादी का कार्यभार, यानी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार पूरा हो गया** और उसके बाद यह देश समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में प्रवेश कर चुका था। गृहयुद्ध में इसने भी सोवियत रूस के विरुद्ध अवस्थिति अपनाई थी। आगे यह भी 1921 में पतित हो गया और उसकी जगह वहाँ पर बोल्शेविकों के नेतृत्व में समाजवादी गणराज्य की स्थापना हुई। लेकिन तब भी वह तत्काल सोवियत रूस के साथ संघ या संघीय यूनियन में शामिल नहीं हुआ। उसके बाद, ट्रांसकॉकेशिया के तीनों नवोदित समाजवादी गणराज्यों ने 12 मार्च 1922 को ट्रांसकॉकेशियन सोवियत फ़ेडरल सोशलिस्ट रिपब्लिक का निर्माण किया, क्योंकि इन क़ौमों की बहुसंख्या अभी तत्काल यूनियन के रूप के लिए तैयार नहीं थी।

बाद में 1922 में ही यह संघ सोवियत रूस (आर.एस.एफ.एस.आर.) के साथ मिला और उसने सोवियत संघ (यू.एस.एस.आर.) की स्थापना की।

बेलारूस

अब आते हैं बेलारूस के उदाहरण पर। बेलारूस में अक्तूबर क्रान्ति के बाद 1918 के आरम्भ में **बेलारूसी जनता के गणराज्य/बेलारूसी राष्ट्रीय गणराज्य की स्थापना हुई।** इसके साथ ही, बेलारूस में भी **क़ौमी आज़ादी यानी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का चरण पूरा हो गया।** इसके बाद 1919 में बेलारूस में बेलारूस के बोल्शेविकों ने सत्ता में क़ब्ज़ा किया और वहाँ बेलारूसी सोवियत समाजवादी गणराज्य की स्थापना की जो कि बाद में सोवियत संघ में शामिल हुआ।

यूक्रेन

अब आते हैं यूक्रेन पर। यूक्रेन में फ़रवरी क्रान्ति के बाद यूक्रेनी आज़ादी और जनवादी गणराज्य स्थापित करने के कई प्रयास हुए। नतीजतन, **अक्टूबर क्रान्ति के बाद और गृहयुद्ध के दौरान वहाँ बुर्जुआ जनवादी सत्ता अस्तित्व में भी आई।** इस बुर्जुआ सत्ता के यूक्रेनी गणराज्य की सत्ता होने के दावे को शुरुआत में सोवियत सत्ता ने ख़ारिज नहीं किया। इसका नाम था **यूक्रेनी जनता का जनवादी गणराज्य (यूक्रेनियन पीपुल्स रिपब्लिक)**, जोकि वास्तव में राष्ट्रीय जनवादी गणराज्य था, जिसका केन्द्र यूक्रेन की राजधानी कियेव में था और जिसे दुनिया की सभी पूँजीवादी सत्ताओं ने ब्रेस्त-लितोव्स्क की संधि के बाद मान्यता दी। लेकिन जल्द ही **बोल्शेविकों ने भी मज़दूरों, किसानों और सैनिकों को सोवियतों के अंतर्गत संगठित करने का काम हाथ में लिया, जिस प्रक्रिया का अन्तिम परिणाम था यूक्रेनी सोवियत गणराज्य की स्थापना, जो कि स्वयं एक जनता का जनवादी गणराज्य ही था और जिसका केन्द्र खारकोव में था। इस यूक्रेनी सोवियत गणराज्य ने अपने आपको समाजवादी सोवियत गणराज्य दो साल बाद केवल 1919 में घोषित किया।** गृहयुद्ध के दौरान इन दोनों सत्ताओं के बीच तीखा टकराव हुआ, जो कि सोवियत सत्ता के विरुद्ध युद्ध और जारी गृहयुद्ध का ही अंग था। जर्मन फौजें इसमें यूक्रेनी बुर्जुआ सत्ता को पूरी सामरिक सहायता पहुंचा रही थी। वर्ग युद्ध की इस प्रक्रिया में यूक्रेन के बुर्जुआ जनवादी गणराज्य का पतन हुआ और वह यूक्रेनी सोवियत समाजवादी गणराज्य का अंग बन गया। वहीं दूसरी ओर, पश्चिमी यूक्रेन को द्वितीय पोलिश गणराज्य ने हथिया लिया था, जो कि ख़ुद ही अक्तूबर क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आया था। नया यूक्रेनी सोवियत समाजवादी गणराज्य भी सोवियत संघ में शामिल हुआ।

अन्य दमित क़ौमें: तुर्कमानिस्तान, उज़बेकिस्तान, ताजिकिस्तान, कज़ाकिस्तान, लिथुआनिया, लात्विया, एस्तोनिया, आदि

अब हम अन्य दमित क़ौमों के साथ अक्तूबर क्रान्ति के बाद क्या हुआ इस पर भी एक निगाह दौड़ा लेते हैं। **बाकी सभी दमित क़ौमों में भी अक्तूबर क्रान्ति के तत्काल बाद जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य ही अस्तित्व में आये।** बाद में अलग-अलग समय पर इन देशों में समाजवादी गणराज्य सत्ता में आये और वे सोवियत संघ में शामिल हुए।

तुर्कमान व उजबेक जनवादी गणराज्य 1924 तक अस्तित्वमान थे, जिसके बाद वहाँ समाजवादी गणराज्यों की स्थापना हुई; **ताजिक समाजवादी गणराज्य 1929 में बना**; **कज़ाकिस्तान और किर्गीस्तान में समाजवादी गणराज्य 1936 में।** हालाँकि 1920-21 से ही इन तमाम क्षेत्रों को RSFSR की स्वायत्त इकाईयों में गठित किये जाने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी।

कारेलो फ़िनिश, माल्दोवियाई, लिथुआनियाई समाजवादी गणराज्यों की स्थापना 1940 में हुई जिनके पहले वहाँ जनवादी गणराज्य मौजूद थे। एस्तोनियाई समाजवादी गणराज्य 21 जुलाई 1940 में अस्तित्व में आया जिसके पहले वहाँ बुर्जुआ जनवादी गणराज्य मौजूद था।

इसी प्रकार **लात्वियाई समाजवादी गणराज्य 1940 में स्थापित हुआ था, जिसके पहले वहाँ पर अक्तूबर क्रान्ति के बाद से ही बुर्जुआ जनवादी गणराज्य मौजूद था।** 1918-19 के दौर में कुछ समय के लिए इन बाल्टिक देशों में सोवियत गणराज्य घोषित किये गये थे, लेकिन इसके तुरंत बाद ही वहाँ बुर्जुआ गणराज्यों की स्थापना हो गयी थी, जिसमें साम्राज्यवादी देशों के हस्तक्षेप की अहम भूमिका थी।

लेकिन इन सभी क़ौमों में पहले राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का प्रश्न हल हुआ, किसी न किसी प्रकार जनवादी सत्ता व जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आये और बाद में अलग-अलग प्रक्रियाओं में वहाँ चल रहे आन्तरिक वर्ग संघर्ष और अन्तरराष्ट्रीय वर्ग संघर्ष से पैदा हुए सन्धि-बिन्दुओं पर समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में आये और ये प्रक्रिया 1921 से 1940 तक जारी रही।

पूर्वी सीमान्त क्षेत्र की दमित क़ौमें: खीवा, बुखारा, तुर्केस्तान, बशकीर, तातार, आदि

रूस के पूर्वी सीमान्त क्षेत्रों में तमाम दमित क़ौमों के देश में भी कई जगह **बुर्जुआ राष्ट्रीय जनवादी सत्ताएँ ही अस्तित्व में आईं थीं। इनमें से कई तो अक्तूबर क्रान्ति के पहले ही अस्तित्व में आई थीं, यानी फ़रवरी क्रान्ति के बाद।** इनमें से किसी में भी अक्तूबर क्रान्ति के तत्काल बाद समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में नहीं आया था और हर जगह या तो बुर्जुआ राष्ट्रीय जनवादी सत्ताएँ अस्तित्व में आईं, या काफ़ी समय तक गृहयुद्ध जैसी स्थिति बनी रही।

पूर्व के सरहदी इलाक़ों में 1905 की क्रान्ति के बाद से ही भ्रूण रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरुआत हो चुकी थी। इनमें मुख्य तौर पर तातार, बशकीर, कज़ाख़ आदि समुदाय प्रमुख थे जो पहले ख़ानाबदोश समुदाय थे। इनके अलावा खीवा, बुखारा, तुर्केस्तान, जहाँ कमोबेश ज्यादा बसी हुई आबादी रहती थी, वहाँ भी राष्ट्रीय जागरण की शुरुआत इसी दौर में होती है। इन सभी इलाक़ों में बहुसंख्या मुसलामानों की थी।

1917 तक इनमें से कई समुदाय राष्ट्रीय आज़ादी नहीं बल्कि राष्ट्रीय स्वायत्ता ही माँग रहे थे। मई से जुलाई 1917 अपनी अलग-अलग कांग्रेसों में तातार, बशकीर, कज़ाख़ और कई अन्य बेहद छोटी राष्ट्रीयताएँ जैसे कि मारी, वोत्याक, चुवाश इत्यादि भी इसी तरह की स्वायत्ता की माँगों को उठा रहे थे। इन तमाम राष्ट्रीयताओं के क़ौमी आन्दोलन पर मुफ़्तियों, मुल्लाओं, बेगों, इमामों, ख़ानों की न सिर्फ़ विचारणीय धार्मिक पकड़ थी बल्कि इनका राजनीतिक हस्तक्षेप भी था।

फ़रवरी और अक्टूबर क्रान्ति के अन्तराल में और अक्टूबर क्रान्ति के बाद भी पूर्व के इन क्षेत्रों में कई "बुर्जुआ" राष्ट्रीय सरकारें अस्तित्व में आई थीं। उदहारण के लिए, अक्टूबर क्रान्ति के तुरंत बाद वालिदोव नमक शख्स के नेतृत्त्व में एक बशकीर सरकार अस्तित्व में आई जिसने स्वायत्त बशकीर राज्य की घोषणा भी कर दी थी। ऐसी ही एक स्वायत्त बुर्जुआ राष्ट्रीय सरकार तातारों के बीच भी बनी। **ये सभी राष्ट्रीय जनवादी सत्ताएँ थीं, न कि समाजवादी सत्ताएँ व गणराज्य।**

इसके तुरन्त बाद ही मार्च 1918 में इन दोनों सरकारों को सोवियत सत्ता द्वारा भंग कर दिया गया। रूसी सोवियत फ़ेडरेशन के तातार-बकशीर सोवियत गणराज्य के गठन की घोषणा की गयी जिसमें चुवाश और मारी राष्ट्रीयताओं को भी शामिल किया जाना था। **यह भी और कुछ नहीं जनता के जनवादी गणराज्यों की ही स्थापना थी।** इसके बाद भी कई बोल्शेविक-विरोधी ताक़तें सत्ता हथियाने के प्रयास करती रहीं और गृह युद्ध के पूरे दौर में यह प्रक्रिया जारी रही। उत्तरी काकेशस और दागेस्तान में भी इस दौरान जनवादी गणराज्य की स्थापना के लिए स्थानीय राष्ट्रवादियों और बोल्शेविकों के बीच संघर्ष जारी रहा। **इसके बाद मई** 1920 **में, बशकीर और तातार स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य और चुवाश स्वायत्त क्षेत्र अस्तित्व में आये और इसी साल के अन्त तक कज़ाख़ स्वायत्त सोवियत समाजवादी गणराज्य और कलमिक स्वायत्त क्षेत्र अस्तित्व में आये।**

तुर्केस्तान में ताशकंत में पहली सोवियत **जनवादी सरकार** सितम्बर 1917 में ही अस्तित्व में आ गयी। यह शुरुआत में बोल्शेविकों के नेतृत्त्व में नहीं बनी थी। हालाँकि इसमें मेंशेविक शामिल थे, लेकिन इसका चरित्र रैडिकल जनवादी था और

आरज़ी सरकार का तख़्तापलट करके ही इसने सत्ता पर क़ब्ज़ा किया था। वहीं दूसरी ओर कोकन्द में मुसलमानों की कांग्रेस ने स्वायत्त तुर्केस्तान की घोषणा कर दी जिसे एक **जनवादी गणराज्य** कहा गया।

इसके अलावा खीवा, बुखारा में भी 1918 में अमीरों और खानों के नेतृत्त्व में पहले **बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ** ही अस्तित्व में आयीं। इन तमाम इलाकों में सोवियत सत्ता अपनी स्थिति 1920 से ही सुदृढ़ करने की अवस्था में पहुंची। खीवा से ख़ानों की सरकार को खदेड़ा गया और वहाँ खोरम (खीवा का प्राचीन नाम) के जनवादी गणराज्य की स्थापना की गयी। इसी समय बुखारा में भी अमीर की सत्ता का पतन हुआ और नवम्बर-दिसम्बर, 1920 में बुखारा में भी सोवियत गणराज्य की स्थापना हो गयी। इसके बाद अप्रैल 1921 में तुर्केस्तान समाजवादी सोवियत गणराज्य की स्थापना की घोषणा की गयी जो कि RSFSR में स्वायत्त इकाई के तौर पर शामिल हुआ।

यानी पूर्वी सीमान्त की इन सभी दमित क़ौमों में भी पहले बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ ही अस्तित्व में आईं। कुछ जगहों पर संघर्ष काफी देर तक चलता रहा और गृहयुद्ध की स्थितियों में समाजवादी रूस का भी इस प्रक्रिया में हस्तक्षेप रहा। लेकिन इन सब जगहों पर तत्काल समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न नहीं हुई, जैसा कि हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों को लगता है।

सोवियत रूस (R.S.F.S.R.) **की स्वायत्त इकाइयाँ, राष्ट्रीयताएँ व जातीय उपराष्ट्रीयताएँ: चुवाश, मारी, कलमिक, आदि**

उपरोक्त दमित क़ौमों के अलावा, कुछ ऐसी राष्ट्रीयताएँ, उपराष्ट्रीयताएँ व बेहद छोटे जातीय राष्ट्र व राष्ट्रीयताएँ थीं जोकि अपना राष्ट्र-राज्य बनाने में सक्षम नहीं थीं। वे स्वायत्त इकाइयों व क्षेत्रों के तौर पर सोवियत रूस के भीतर शामिल हुईं। इनके राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार यानी की अलग होने का अधिकार का सवाल ही अप्रासंगिक था क्योंकि विविध कारणों से ये राष्ट्रीयताएँ अपने स्वतंत्र राज्य के गठन के लिए सक्षम नहीं थीं और न ही उनकी कोई ऐसी माँग थी और इसलिए राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का प्रश्न ही उनके लिए अप्रासंगिक था। वे केवल क्षेत्रीय (सांस्कृतिक नहीं!) स्वायत्तता चाहती थीं जो कि R.S.F.S.R. यानी समाजवादी सोवियत रूस में उन्हें मिली। एक संक्षिप्त निगाह उन पर भी डाल लेते हैं।

अक्टूबर क्रान्ति के पश्चात् रूसी समाजवादी संघात्मक सोवियत गणराज्य (RSFSR) के अस्तित्व में आने के साथ स्वायत्त इकाइयों के रूप में कुछ ऐसी राष्ट्रीयताएँ और राष्ट्र भी शामिल हुए थे जो या तो अपनी निश्चित क्षेत्रीयता के अभाव के चलते या फिर अपने बेहद छोटे आकार, संख्या और बिखराव के चलते एक अलग स्वतन्त्र राष्ट्र-राज्य के गठन के लिए जीवक्षम नहीं थे। इनमें से मुख्य तौर पर कई ग़ैर-स्लाव समुदाय थे। चुवाश, कलमिक, मारी आदि ऐसे समुदाय थे जिनकी क्षेत्रीयता तो थी लेकिन जनसंख्या के लिहाज़ से स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य बनाने के लिए ये उपयुक्त नहीं थे। इसलिए इन्हें RSFSR के भीतर स्वायत्त इकाइयों के रूप में मान्यता दे दी गयी।

इस पूरे विवरण के लिए पाठक ई. एच. कार की पुस्तक 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन' के पहले खण्ड के अध्याय 'सेल्फ़ डेटरमिनेशन इन प्रैक्टिस' और 'बैलेंस शीट ऑफ सेल्फ डेटरमिनेशन' का अध्ययन कर सकते हैं।

जैसाकि हम देख सकते हैं, रूस में समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी गणराज्य की स्थापना का अर्थ सभी दमित क़ौमों में सीधे समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी गणराज्य की स्थापना नहीं था। इन सभी दमित राष्ट्रों में पहला सवाल राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का था और इस सवाल के हल होने के बाद ही ये अलग-अलग राष्ट्र अलग-अलग समय में अलग-अलग प्रक्रियाओं से गुज़रकर समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में पहुँचे। कुछ जल्दी पहुँचे तो कुछ देर में पहुँचे। लेकिन तत्काल इन सभी दमित राष्ट्रीयताओं में किसी न किसी प्रकार के जनवादी गणराज्य की स्थापना हुई, न कि समाजवादी गणराज्य की, जैसाकि इतिहास के प्रति शर्मनाक अपढ़पन के कारण हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों को लगता है।

निष्कर्ष

लुब्बेलुबाब यह कि रूस में अक्तूबर क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति थी, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि ज़ारवादी रूसी साम्राज्य की सभी दमित क़ौमों के लिए भी यह सीधे समाजवादी क्रान्ति थी। इन सभी दमित क़ौमों के देशों में सबसे पहले राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार पूरा हुआ और इस प्रकार राज्यसत्ता के जनवादी कार्यभार पूरे हुए। इसके नतीजे के तौर पर इन सभी दमित क़ौमों के देशों में सीधे समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में नहीं आये वरन् जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य ही अस्तित्व में आये। इसके बाद पहले गृहयुद्ध की प्रक्रिया के दौरान और उसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रक्रिया के दौरान तमाम जनता के जनवादी गणराज्यों में बोल्शेविक सत्ता में आये और समाजवादी गणराज्यों की स्थापना हुई और ये अलग-अलग समय पर सोवियत संघ में शामिल हुए।

इसलिए 'प्रतिबद्ध-ललकार' के ट्रॉट-बुण्डवादी महोदय का यह दावा कि अक्तूबर क्रान्ति ने रूसी साम्राज्य की सभी दमित क़ौमों में सीधे समाजवादी क्रान्ति द्वारा क़ौमी आज़ादी के सवाल को हल किया, केवल यही दिखलाता है कि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक श्री ट्रॉट-बुण्डवादी ने न तो मार्क्सवाद-लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्तों का ही ढंग से अध्ययन किया है, और न ही बोल्शेविक क्रान्ति, समाजवादी निर्माण और क़ौमी सवाल के हल होने की प्रक्रिया के पूरे इतिहास का कोई अध्ययन किया है।

विशेष सामग्री

राष्ट्रीय प्रश्न पर 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर का लेख:

मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न पर चिन्तन के नाम पर बुण्डवादी राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और त्रॉत्स्कीपन्थ में पतन की त्रासद कहानी

शिवानी

(हाल ही में, आन्दोलन में एक ऐसी प्रवृत्ति पैदा हुई है जिसने उन दो ख़तरनाक भटकावों का एक मिश्रण तैयार किया है, जिनके ख़िलाफ़ लेनिन जीवनपर्यन्त संघर्ष करते रहे थे: बुण्डवादी राष्ट्रवाद और त्रॉत्स्कीपन्थ। 'आह्वान' की ओर से इस ट्रॉट-बुण्डवादी अवस्थिति की विस्तृत आलोचना पेश की गयी है। इसके कुछ हिस्से हम आपसे यहाँ साझा कर रहे हैं। इस पूरी आलोचना को 'आह्वान' पुस्तिका के रूप में जल्द ही प्रकाशित किया जायेगा। हम यहाँ इस आलोचना के कुछ हिस्से पेश कर रहे हैं। पूरी आलोचना को आप यहाँ पढ़ सकते हैं: *www.ahwanmag.com/archives/7567* ***- सम्पादक)***

कुछ प्रारम्भिक आधारभूत बिन्दु

उपरोक्त लेख में 'प्रतिबद्ध' द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न पर मौजूद क्लासिकीय मार्क्सवादी अवस्थिति को न सिर्फ़ बेहद मनमाने ढंग से व्याख्यायित किया गया है बल्कि इस प्रश्न पर मार्क्सवादी लेखन में प्रस्तुत मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन, काउत्स्की आदि की प्रस्थापनाओं को सन्दर्भों से काटकर भी पेश किया गया है। साथ ही, राष्ट्रीय प्रश्न पर एक बेहद गड्डमड्ड अवस्थिति अपनाई गयी है। मूल मुद्दों से, **यानी राष्ट्रीय प्रश्न क्या होता है, राष्ट्रीय दमन क्या होता है, पंजाबी क़ौम किस पैमाने से दमित क़ौम है आदि सवालों से बच निकलने का असफल प्रयास किया गया है।** इसके अलावा हमारे ('आह्वान') द्वारा इन्हें राष्ट्रवादी व भाषाई अस्मितावादी विचलन का शिकार कहे जाने को इन्होंने हमारा वर्ग अपचयनवाद (class reductionism) कहा है, हमारी राष्ट्रीय प्रश्न के प्रति उदासीनता और केवल "मज़दूर मसलों" और "शिक्षा-रोज़गार के मसले" को प्राथमिकता देना कहा है। सच कहें तो हमें ऐसे ही जवाब की उम्मीद थी!

चूँकि राष्ट्रीय प्रश्न पर सही मार्क्सवादी अवस्थिति अपनाने का सवाल कोई अकादमिक क़वायद नहीं है, बल्कि सीधे तौर पर सर्वहारा क्रान्ति के कार्यक्रम से जुड़ा हुआ मुद्दा है, इसलिए इस पर कोई भी हवा-हवाई, अठोस, अमूर्त और वायवीय (ethereal) अवस्थिति आपको उतने ही हवा-हवाई, अमूर्त, वायवीय और ग़लत निष्कर्षों पर पहुँचाएगी, जोकि सुखविन्दर के उपरोक्त लेख में देखने को मिलते हैं।

साथ ही, ऐसा वायवीय विमर्श राष्ट्रीय प्रश्न सम्बन्धी ठोस कार्यक्रम व राजनीतिक माँगों के सूत्रीकरण और उससे निकलने वाले ठोस व्यावहारिक कार्यभारों को चिह्नित करने में न सिर्फ़ विचारधारात्मक गड़बड़ी पैदा करेगा बल्कि आपको एकदम ग़लत राजनीतिक कार्यदिशा की ओर भी ले जायेगा। **इस लेख में सुखविन्दर ने राष्ट्रीय प्रश्न को, क़ौमी दमन को, जहाँ तक कि पंजाब का सवाल है, सांस्कृतिक-भाषाई दमन में अपचयित** (reduce) **कर दिया है और महज़ उसे ही क़ौमी दमन का नाम दे दिया है।** यह अवस्थिति किस तरह से मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति का निषेध है, उससे विचलन है और अपने सारतत्व में 'बुण्डवादी', सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्ततावादी और त्रॉत्स्कीपन्थी अवस्थिति है, यह हम इस आलोचना में आगे दिखायेंगे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि राष्ट्रीय प्रश्न क्या होता है इस पर सुखविन्दर द्वारा उनके लेख में सकारात्मक पक्ष रखने की बजाय नकारात्मक तौर पर अवस्थिति रखी गयी है। लेखक जो सिद्ध करने पर तुले हुए हैं वह ये है कि **(1) राष्ट्रीय प्रश्न औपनिवेशिक प्रश्न के बग़ैर अस्तित्व में आ सकता है; (2) राष्ट्रीय प्रश्न अग्रेरियन प्रश्न/भूमि प्रश्न के बग़ैर अस्तित्व में आ सकता है; (3) राष्ट्रीय प्रश्न बिना किसी एक राष्ट्र के दबदबे/प्रभुत्व के** (dominant nation) **के अस्तित्व में आ सकता है; और (4) बुर्जुआजी के दमन के बिना भी राष्ट्रों का दमन हो सकता है।**

हम सबसे पहले सुखविन्दर द्वारा पेश की गयी इन प्रस्थापनाओं पर अपनी बात केन्द्रित करेंगे क्योंकि इनके लेख का मूल मक़सद इन्हें ही सिद्ध करना है और दिखलायेंगे कि किस तरह ये प्रस्थापनाएँ लेख के पीछे के पूरे तर्क को संचालित करती हैं। सुखविन्दर अपने लेख के शुरू में ही बिना कहे यह ज़ाहिर

कर देते हैं कि उन्हें इस लेख में साबित क्या करना है। उन्हें इस लेख और शायद आने वाले अन्य लेखों (उन्होंने शुरू में ही कह दिया है कि वह 'प्रतिबद्ध' के आने वाले अंकों में 'भारत में राष्ट्रीय प्रश्न' और 'पंजाब में राष्ट्रीय प्रश्न' पर लेख प्रकाशित करेंगे) में यह दिखलाना है कि *पंजाब एक दमित राष्ट्र है, एक ऐसा दमित राष्ट्र जहाँ न तो औपनिवेशिक प्रश्न, न भूमि/कृषि प्रश्न और न ही कोई दमित बुर्जुआ वर्ग मौजूद है।* इसलिए वह जब भी भारत में "असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न" की बात करते हैं तो कश्मीर और उत्तर-पूर्व के विषय में क़ौमी दमन का उदाहरण देते समय तो सैन्यकरण और वहाँ चल रहे मुक्ति संघर्ष का हवाला देते हैं। लेकिन जब "मुख्य भूमि" भारत में (मुख्यत: पंजाब में!) इस प्रश्न के "असमाधित" रहने की बात करते हैं तब राष्ट्रीय दमन को इन शब्दों में व्याख्यायित करते हैं –

"हिंदी का कभी ख़ुलेआम तो कभी चुपचाप थोपा जाना, विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं में शिक्षा पर रोक लगाना, *इन भाषाओं के स्कूल* बंद किया जाना और संविधान में भारत को जिस तरह का संघीय ढाँचा माना गया है उसके विपरीत जाकर भारतीय शासकों का ज़ोर हमेशा ऐकिक ढाँचे की ओर रहना।" (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

यानी सुखविन्दर के अनुसार, "मुख्य भूमि" भारत में असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न का यह स्वरुप है: *भाषाओं का दमन और संघीय ढाँचे की अवमानना।*

यह तर्क-पद्धति कितनी भोथड़ी है और राष्ट्रीय प्रश्न पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति का कितना भद्दा विकृतिकरण है यह यहीं पर स्पष्ट हो जाता है। अब आप समझ सकते हैं कि लेखक ने ऊपर गिनाये गये निष्कर्ष क्यों निकाले थे। ज़ाहिरा तौर पर यह पंजाब को दमित क़ौम साबित करने के लिए किया गया है। यह इसलिए भी किया गया है क्योंकि क्लासिकीय मार्क्सवादी लेखन में स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है कि राष्ट्रीय प्रश्न का सीधा अर्थ राष्ट्रीय दमन का होना है, **राष्ट्रीय दमन तभी हो सकता है जब दमित राष्ट्र के सम्बन्ध में या तो औपनिवेशिक प्रश्न (दूसरे शब्दों में, दमित राष्ट्र के ऊपर क्षेत्रीय कब्जे**/annexation **या उपनिवेशिकीकरण**/colonization **का प्रश्न) और दमित बुर्जुआ वर्ग की उपस्थिति हो *या* फिर भूमि सम्बन्धी** (agrarian) **प्रश्न और दमित बुर्जुआ वर्ग की उपस्थिति हो जैसाकि अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में था। यदि इन दोनों में से कोई भी स्थिति नहीं है, तो हम राष्ट्रीय दमन की बात नहीं कर सकते हैं। इसमें भी जो सबसे महत्वपूर्ण बात है और राष्ट्रीय दमन के हर उदाहरण में मौजूद होती है, वह है बुर्जुआजी का दमन।** राष्ट्रीय दमन सिर्फ़ और सिर्फ़ इसी रूप और अर्थ में अस्तित्वमान हो सकता है। दमित राष्ट्र का मतलब ही है कि वहाँ का बुर्जुआ वर्ग प्रभुत्वशाली राष्ट्र के शासक वर्गों द्वारा दमित है और उसका *स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व* नहीं है; *वह इस दमन के ख़िलाफ़ संघर्ष करता है या नहीं या इसके विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन में रैडिकल तरीके से उतरता है या नहीं, यह एक अलग बात है।* वह आमूलगामी तरीके से उपनिवेशवाद-विरोधी साम्राज्यवाद-विरोधी अवस्थिति अपनाता है या अपना पाता है या नहीं, इससे इस बात का कोई रिश्ता नहीं है कि वह दमित है या नहीं।

विशेष तौर पर, साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार *पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति* के दायरे का अतिक्रमण कर जाता है और आम तौर पर राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को पूरा करने में एक ढुलमुलयक़ीन मित्र में तब्दील हो जाता है, और कई बार तो करता ही नहीं, क्योंकि वह सर्वहारा वर्ग के उभार से डर जाता है। ऐसे में, राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की भूमिका भी मँझोला व छोटा पूँजीपति वर्ग तथा किसान वर्ग निभाते हैं, जैसाकि लेनिन और माओ ने बताया था, और हम आगे दिखाएंगे। यह राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग जब भी सर्वहारा वर्ग व किसान वर्ग के उभार से घबराता है, तो दमनकारी राष्ट्र की बुर्जुआजी से मोलभाव और समझौते करने लगता है। **इसका यह अर्थ नहीं है कि वह दमित बुर्जुआजी नहीं है। यह भी हम आगे सन्दर्भ समेत दिखाएंगे।**

इसका केवल यह अर्थ होता है कि साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को भी आमूलगामी तरीके से और सुसंगत जनवादी तरीके से पूरा करने के काम में बुर्जुआ वर्ग अक्षम हो जाता है, और यह कार्य भी सर्वहारा वर्ग को अपने नेतृत्व में लेना चाहिए और किसान वर्ग, पेटी बुर्जुआजी और राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के सर्वाधिक आमूलगामी व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मिलकर ***जनता की जनवादी क्रान्ति*** के कार्यभार को सम्पन्न करना चाहिए। लेकिन राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग यदि ऐसा ढुलमुल बर्ताव करता है, तो भी यह उसके दमित न होने को प्रदर्शित नहीं करता है। कम-से-कम मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवस्थिति तो यही कहती है। अब अगर सुखविन्दर पंजाब में राष्ट्रीय दमन साबित करने के फेर में कोई नया सिद्धान्त-प्रतिपादन कर रहे हों, तो बात अलग है! ऐसा करने में कोई दिक्क़त नहीं है, बस उन्हें यह स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए और यह भी दिखलाना चाहिए कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी अवस्थिति इस प्रश्न पर ग़लत है। उन्हें अपनी धारणा को सही साबित करने के लिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त का विकृतिकरण नहीं करना चाहिए, उसमें काट-छाँट नहीं करनी चाहिए और बजाय अपनी ग़लत धारणा बदलने के मार्क्सवादी सिद्धान्त नहीं बदलना चाहिए।

अगर भारत के विषय में बात करें तो कश्मीर और उत्तर-पूर्व में मौजूद दमित राष्ट्रों का भारतीय राज्य द्वारा ज़बरन क्षेत्रीय क़ब्ज़ा/अधिग्रहण/उपनिवेशीकरण (annexation/colonization) किया गया है। वहाँ की बुर्जुआजी व पेटी-बुर्जुआजी का दमन किया गया है। इसीलिए वहाँ उन क़ौमों का राष्ट्रीय दमन है और वहाँ राष्ट्रीय प्रश्न का समाधान होना बाकी है। कहने की

आवश्यकता नहीं है, कि यह क़ौमी दमन राष्ट्रीय बुर्जुआजी के आर्थिक व राजनीतिक दमन से शुरू *होता* है, लेकिन फिर इसे पूरी क़ौम तक विस्तारित कर दिया जाता है और इस क़ौमी दमन के तौर पर भाषाओं का दमन, राजनीतिक अधिकारों का दमन भी होता है, जिसका सामना इन दमित क़ौमों के मेहनतकश वर्गों को भी करना पड़ता है। राजनीतिक दमन का चरित्र ही ऐसा होता है। **जिस तरह एक हद तक पूँजीवाद के विकास और बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व में आये बग़ैर 'राष्ट्र' अस्तित्व में नहीं आ सकता है, उसी तरह बिना दमित बुर्जुआ वर्ग के दमित राष्ट्र अस्तित्व में नहीं आ सकता है। दूसरे शब्दों में, बुर्जुआजी के दमन के बिना राष्ट्रीय दमन की अवधारणा ही अवैध हो जाती है।**

दुनियाभर के मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी इस बात को जानते हैं, जैसाकि हम आगे उद्धरणों समेत दिखाएंगे। इतनी सामान्य-सी बात भी हमें बार-बार इसलिए दोहरानी पड़ रही है क्योंकि 'प्रतिबद्ध' के लेखक यह बुनियादी बात भी समझ नहीं पा रहे हैं या फिर समझ कर भी अनजान बन रहे है। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है कि भारत और इन राष्ट्रों (यानी कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों) के क्षेत्र (territory) एक दूसरे से सटे हुए (contiguous) हैं। उपनिवेश या क्षेत्रीय क़ब्ज़े सात समन्दर पार हों, तो ही उन्हें उपनिवेश या क़ब्ज़ा नहीं माना जाता है। यदि कोई देश अपने क्षेत्र से सटे किसी राष्ट्र के क्षेत्र पर भी क़ब्ज़ा करता है, तो वह उपनिवेश या क़ब्ज़ा ही माना जाता है। आयरलैण्ड, पोलैण्ड आदि में ऐसा ही था। जहाँ तक राष्ट्रीय प्रश्न का सवाल है, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है, जैसाकि लेनिन ने दिखलाया था और हम आगे उद्धरण समेत दिखाएंगे। कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्य भी भारत द्वारा उपनिवेशीकृत क्षेत्र ही हैं। **इसलिए आम तौर पर "मुख्य भूमि" भारत में और विशेष रूप से पंजाब में यह प्रश्न इन अर्थों में किस प्रकार असमाधित है, यह 'प्रतिबद्ध' के लेखक को बताना पड़ेगा।** लेनिन ने बताया था कि क़ौमी दमन का अर्थ ही है किसी क़ौम को उसकी इच्छा के विपरीत किसी अन्य राज्य की सीमाओं के भीतर रखना, चाहे वह क्षेत्र उस राज्य से लगा हुआ हो, ऐतिहासिक तौर पर उसकी सीमाओं के भीतर रहा हो, या सात समन्तर दूर हो। इससे जुड़े उद्धरण हम आगे पेश करेंगे।

याद रखें, यहाँ हम राष्ट्र (nation**) की बात कर रहे हैं, अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं (**minority nationalities**) की नहीं। इन दोनों में लेनिन से लेकर माओ तक सभी ने फ़र्क़ किया है और वैज्ञानिक व राजनीतिक दृष्टि से फ़र्क़ किया जाना चाहिए।** राष्ट्रों का एक क्षेत्रीयता का चरित्र (territoriality) होता है चाहे वे छोटे राष्ट्र हों या बड़े राष्ट्र, जैसाकि पंजाब का है, या कश्मीर, महाराष्ट्र, उत्तर-पूर्व के राज्यों आदि का है। अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएँ वे होती हैं, जिनकी कोई क्षेत्रीयता (territoriality) नहीं होती। मिसाल के तौर पर, यूरोप में यहूदी, स्विट्ज़रलैण्ड में इतालवी, अमेरिका में पुएर्तो रीकन लोग, आदि। कहने का अर्थ यह है कि स्विट्ज़रलैण्ड में इतालवी लोग अपना अलग देश बनाने, यानी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की माँग नहीं कर सकते हैं। या जो कश्मीरी आबादी मुख्यभूमि भारत में कहीं भी बस गयी है, वह वहाँ पर राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की माँग नहीं कर सकती है, क्योंकि वहाँ वह एक अल्पसंख्यक राष्ट्रीयता है, न कि राज्य बनने की क्षमता रखने वाला राष्ट्र, जोकि अपने आत्मनिर्णय का अधिकार रखता है। ऐसी राष्ट्रीयताओं का संघर्ष मूलत: सुसंगत जनवाद, राजनीतिक समानता और भाषा के अधिकार को लेकर होता है।

यह समझना अनिवार्य है कि राष्ट्रीय प्रश्न इसी अर्थ में मौजूद हो सकता है। राष्ट्रीय दमन एक राजनीतिक अवधारणा है, इसका रिश्ता राजनीतिक जनवाद (political democracy) के क्षेत्र से है। इसके अलावा राष्ट्रीय दमन की कोई और व्याख्या, उसका किसी भी किस्म का सांस्कृतिकीकरण (culturalization), उसका किसी भी क़िस्म का वायवीयकरण (etherealization), न केवल मार्क्सवाद-विरोधी है बल्कि दमित राष्ट्रों के वास्तविक संघर्षों के प्रति भी बेहद ख़तरनाक दृष्टिकोण का परिचायक है जो अन्ततः आपको सुधारवादी निष्कर्षों तक पहुंचा देगा।

सुखविन्दर ने हमें वर्ग-अपचयनवादी कहा है और कहा है कि,

"कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों की आज़ादी के बारे में हम ठोंक बजाकर स्टैण्ड नहीं लेते, बस कभी-कभी ज़बानी जमा-ख़र्च तक सीमित रहते हैं, राष्ट्रीय मसलों को नकारते हैं, राष्ट्रीय मसलों के प्रति दिल्ली के शासकों के सुर में सुर मिलाते हैं, राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति असंवेदनशील रवैया रखते हैं" आदि। (सुखविन्दर, 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद', प्रतिबद्ध-33)

ये बड़े गम्भीर आरोप हैं और यदि ये सच हैं तो उन्हें सन्दर्भों और तर्कों समेत दिखलाना चाहिए था कि हमारा राष्ट्रीय प्रश्न पर ऐसा वर्ग-अपचयनवादी रवैया कहाँ मौजूद रहा है। **चूँकि हम पंजाब को दमित राष्ट्र नहीं मानते इसका मतलब यह नहीं है कि हम राष्ट्रीय प्रश्न या क़ौमी दमन होने से ही इन्कार करते हैं। वैसे भी पंजाब को दमित राष्ट्र आपको साबित करना है, हमें नहीं! हालाँकि आपके द्वारा इस लेख में की गयी सारी मशक्कत इस दिशा में बेहद असफल कोशिश जान पड़ती है।** उल्टे, अपनी आलोचना में सप्रमाण और सन्दर्भों के साथ हम ज़रूर यह दिखलायेंगे कि किस तरह 'प्रतिबद्ध' के लेखक का राष्ट्रीय मसलों पर "अति-उत्साहपूर्ण" रवैया वास्तव में केवल पंजाब के लिए ही आरक्षित है और किस तरह यह अवस्थिति न सिर्फ़ ग़ैर-मार्क्सवादी है बल्कि भयंकर पंजाबी बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवादी (Punjabi national chauvinist) विचलन से ग्रस्त है।

कश्मीर और उत्तर-पूर्व भारत में भारतीय राज्यसत्ता द्वारा किये जा रहे बेहद अमानवीय राष्ट्रीय दमन की मुख्यभूमि भारत के किसी भी प्रान्त या क़ौम से कोई तुलना ही नहीं है। कश्मीर दुनिया

के सबसे सैन्यकृत इलाक़ों में से है, इसका ज़िक्र सुखविन्दर ने ख़ुद भी अपने लेख में किया है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व में भारतीय राज्यसत्ता द्वारा लगातार आफ्सपा (AFSPA) कानून लगाकर एक क़िस्म का सैन्य शासन क़ायम किया गया है और ***जबरन इन क़ौमों को भारत में मिलाया गया है।*** इन जगहों पर भारतीय राज्यसत्ता के प्रति वैसी ही नफ़रत है जैसाकि औपनिवेशिक सत्ता के प्रति उपनिवेशों की दमित क़ौमों में होती है। इससे भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है कि वहाँ की बुर्जुआजी इन राष्ट्रों के मुक्ति संघर्षों में क्या और कितनी भूमिका अदा करती रही है, *उनका चरित्र दमित बुर्जुआजी का ही रहेगा।* हाँ, उसका एक हिस्सा जोकि दलाल, ग़ैर-राष्ट्रीय (non-national) है, वह भारतीय हुक्मरानों की कठपुतली के जैसा आचरण करता रहा है और आगे भी इसी की सम्भावना अधिक है, जैसाकि लगभग सारी ही दमित क़ौमों के मामले में देखने को मिलता है। **लेकिन उससे यह तथ्य ख़ारिज नहीं हो जाता है कि इन क़ौमों की राष्ट्रीय बुर्जुआजी दमित है और ठीक इसीलिए यह क़ौमें दमित हैं।** 5 अगस्त, 2019 के बाद तो यह बात और स्पष्ट रूप से सामने आई है जब कश्मीर के बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों तक को जेलों में डाल दिया गया, यहाँ तक कि उन्हें भी नहीं बख़्शा गया जोकि समझौतापरस्त रुख़ अपनाते रहे थे। इससे पहले शेख़ अब्दुल्ला के साथ क्या हुआ था, उससे भी कोई अनभिज्ञ नहीं है। भारत में आपातकाल को छोड़ दिया जाये, जोकि भारतीय राज्यसत्ता के राजनीतिक संकट की ही एक विशिष्ट अभिव्यक्ति था, ना कि कोई राष्ट्रीय दमन की नीति, तो ऐसा किस राष्ट्र की बुर्जुआजी के साथ हुआ है? भारतीय हुक्मरानों द्वारा जो चुनाव वहाँ करवाये जाते हैं उसका भी साल-दर-साल क्या हश्र हुआ है, सबके सामने है। प्रेस और मीडिया पर ज़बरदस्त पाबन्दियाँ हैं। लम्बे समय से इण्टरनेट की सेवाएँ बन्द हैं। आने-जाने, सड़क पर चलने, एक-दूसरे से मिलने-जुलने पर पुलिसिया रोकटोक और पाबन्दियाँ हैं। कहीं भी रोककर फ़ौज और अर्द्धसैनिक बलों द्वारा चेकिंग करना और कश्मीरियों की हत्या तक कर देना आम बात है। कोने-कोने पर चेकपोस्ट बने हुए हैं। शैक्षणिक संस्थानों की स्वायतत्ता बहुत पहले ही ख़त्म कर दी गयी थी। **इस स्थिति की तुलना पंजाब या "मुख्यभूमि" भारत के सुखविन्दर के शब्दों में "असमाधित राष्ट्रीय प्रश्न" से पाठक ख़ुद ही कर लें। पंजाब के तथाकथित "क़ौमी दमन" की तुलना कश्मीर और उत्तर-पूर्व से करना यही दिखलाता है कि सुखविन्दर या तो वास्तव में राष्ट्रीय दमन की मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवधारणा समझे नहीं हैं, या फिर बात कुछ और है।**

अब हम सुखविन्दर द्वारा राष्ट्रीय दमन की अवधारणा पर पेश विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा पर आते हैं। इसी प्रक्रिया में हम ऊपर हमारे द्वारा रखी गयी अवस्थितियों को भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्लासिक्स में पेश अवस्थितियों के सन्दर्भों, उद्धरणों व उदाहरणों समेत सिद्ध करेंगे।

...

पंजाब की स्थिति पर सुखविन्दर के क़ौमी दमन के सिद्धान्त को लागू करने से निकलने वाले विचित्र हास्यास्पद नतीजे

अब आइए सुखविन्दर के क़ौमी दमन के सिद्धान्त को पंजाब के मामले पर लागू करके देखते हैं। **याद रहे, यह काम हम सिर्फ़ मनोरंजन के लिए नहीं कर रहे हैं, हालाँकि इस प्रक्रिया में काफी मनोरंजन हो सकता है!**

उन्हें पंजाबी क़ौम के दमन को सिद्ध करना है। लेकिन पंजाबी बुर्जुआजी को न तो वह दमित मानते हैं और न ही दलाल, बल्कि एक राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र बुर्जुआजी मानते हैं। यही कारण है कि सुखविन्दर दो उद्धरण ढूँढ कर लाए ताकि यह साबित कर सकें कि पंजाबी बुर्जुआजी के दमित (या दलाल) न होने की सूरत में भी, पंजाब को दमित क़ौम माना जा सकता है। हमने ऊपर देखा कि स्तालिन व लेनिन ऐसा कुछ नहीं कह रहे हैं और *उनके उद्धरणों की व्याख्या करने में सुखविन्दर ने बुद्धि विवेक पर कम ज़ोर दिया है और अपने कल्पना के घोड़े ज़्यादा दौड़ा दिये हैं।*

आइए, अब ज़रा सुखविन्दर के सिद्धान्त को पंजाब पर लागू करते हैं।

अगर पंजाब में राष्ट्रीय प्रश्न मौजूद है, तो इसका पंजाब के सन्दर्भ में एक ही मतलब है कि वहाँ राष्ट्रीय दमन है और वहाँ स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य बनाने के हक़ की हिमायत करके और इस हक़ के लिए लड़कर ही एक सही कम्युनिस्ट अवस्थिति अपनाई जा सकती है। वजह यह है कि पंजाब एक राष्ट्र है, कोई अल्पसंख्यक राष्ट्रीयता नहीं जिसकी कोई *टेरीटोरियैलिटी* न हो। और कोई दूसरा रास्ता मार्क्सवादी अवस्थिति के अनुसार सम्भव ही नहीं है। जैसाकि यह शब्द **"राष्ट्र"** ख़ुद ही बताता है कि इसमें बुर्जुआ वर्ग (दलाल पूँजीपति वर्ग को छोड़कर) शामिल है, क्योंकि कोई राष्ट्र बिना बुर्जुआज़ी के अस्तित्व में आ ही नहीं सकता है और राष्ट्र-राज्य निर्माण की परियोजना और कुछ नहीं बल्कि एक बुर्जुआ परियोजना है। यह परियोजना साम्राज्यवाद के युग में बुर्जुआ वर्ग निभाने का पुंसत्व व शक्ति रखता है या नहीं, उससे इस कार्यभार की वर्ग अन्तर्वस्तु पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। तो फिर इन अर्थों में, पंजाबी दमित राष्ट्र में या तो पूरी बुर्जुआज़ी या फिर बुर्जुआज़ी का वह हिस्सा दमित है जोकि राष्ट्रीय है और दलाल नहीं है। **पंजाब में यह दमित बुर्जुआ वर्ग कौन है?** सुखविन्दर साफ़ जवाब देने से बच निकलते हैं और आम सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगते हैं और दावा करते हैं कि बुर्जुआजी के दमन के बिना भी राष्ट्रीय दमन सम्भव है। **एक पल को यह मान लेते हैं कि पंजाबी क़ौम का दमन पंजाबी बुर्जुआजी के दमन के बिना सम्भव है और इस मज़ाक़िया सिद्धान्त को वास्तविकता पर लगाकर उसके मज़ाक़िया नतीजों को देखते हैं।**

अगर पंजाबी बुर्जुआजी का कोई हिस्सा दमित नहीं है और वह बुर्जुआजी दलाल भी नहीं है, बल्कि राजनीतिक रूप से

स्वतन्त्र है, और पंजाबी क़ौम का भारतीय शासक वर्ग यानी भारत के बड़े पूँजीपति वर्ग द्वारा दमन हो रहा है, जैसाकि सुखविन्दर कह रहे हैं, तो कई सवाल उठते हैं।

पहला सवाल, इस राष्ट्रीय दमन पर राजनीतिक रूप से स्वतंत्र पंजाबी बुर्जुआ वर्ग का क्या रवैया है? क्या वह इसमें शामिल है? क्या वह इसका विरोधी है?

अगर शामिल है तो तीन ही *सम्भव नतीजे* हो सकते हैं:

पहला यह कि पंजाबी बुर्जुआजी एक दलाल बुर्जुआजी है जोकि भारतीय राज्यसत्ता द्वारा पंजाबी क़ौम के क़ौमी दमन में शामिल है और भारतीय राज्यसत्ता की दलाल है। लेकिन इस सम्भावना को हम व सुखविन्दर दोनों ही पहले ही नकार चुके हैं। यह वैसे भी सम्भव नहीं है क्योंकि पंजाबी बुर्जुआजी मूलत: एक औद्योगिक-वित्तीय व खेती में भी उत्पादक सेक्टर में लगी हुई बुर्जुआजी है, जोकि दलाल हो ही नहीं सकती है। यह मूलत: और मुख्यत: कोई नौकरशाह या वाणिज्यिक बुर्जुआजी नहीं है। अब दूसरी सम्भावना पर आते हैं।

दूसरा सम्भव नतीजा यह है कि सुखविन्दर कह रहे हैं कि पंजाबी बुर्जुआजी पंजाबी क़ौम के भारतीय शासक वर्ग द्वारा दमन पर कुछ नहीं बोल रही है, चुप बैठी है और उसकी इस पर कोई अवस्थिति ही नहीं है! हम जानते हैं कि यह बेतुकी बात है क्योंकि पंजाबी बुर्जुआजी अपने वर्ग हितों को संगठित कर चुकी *राजनीतिक रूप से सचेत* बुर्जुआजी है, मार्क्स के शब्दों में महज़ एक **सामाजिक वर्ग (social class)** नहीं है, बल्कि एक **राजनीतिक वर्ग (political class)** है और एक राजनीतिक वर्ग हर प्रश्न पर एक अवस्थिति या चार्टर रखता है, जोकि उसके हितों की नुमाइन्दगी करता है। यदि ऐसा नहीं है तो मानना होगा कि वह एक राजनीतिक वर्ग के रूप में अभी संगठित ही नहीं हुआ है। ज़ाहिर है कि पंजाबी बुर्जुआजी की ऐसी स्थिति नहीं है।

तीसरा सम्भव नतीजा यह हो सकता है कि पंजाबी बुर्जुआजी को ख़ुद भारतीय शासक वर्ग में हिस्सेदारी हासिल है। लेकिन उस सूरत में सुखविन्दर फिर से एक मज़ाक़िया नतीजे पर पहुँच जायेंगे और वह यह कि *पंजाबी बुर्जुआजी पंजाबी क़ौम का क़ौमी दमन कर रही है, दूसरे शब्दों में पंजाबी क़ौम अपना स्वदमन कर रही है!* क्योंकि क़ौमी दमन का मतलब ही यह होता है कि एक क़ौम का *दूसरी दमनकारी क़ौम या क़ौमों* द्वारा दमन। यदि पंजाबी बुर्जुआजी ही पंजाबी जनता का दमन कर रही है, तो क़ौमी दमन की अवधारणा ही बेकार हो जाती है। आप देख सकते हैं कि सुखविन्दर के क़ौमी दमन के सिद्धान्त को अगर वास्तविकता में लागू किया जाय, तो उसके कैसे हास्यास्पद नतीजे सामने आते हैं।

सुखविन्दर जब भारत के सौ सबसे अमीर लोगों में 80 के गुज़राती होने के बारे में बात करते हैं, तो ऐसा ध्वनित होता है कि भारत की बड़ी बुर्जुआजी में पंजाबी बुर्जुआजी का हिस्सा नहीं है। *यदि ऐसा है* तो इसका अर्थ है कि पंजाबी बुर्जुआजी दमित है! सुखविन्दर को बिना शर्म यह स्वीकार कर लेना चाहिए और पंजाबी बुर्जुआजी से मोर्चा बना लेना चाहिए राष्ट्रीय मुक्ति के लिए! क्योंकि दमित बुर्जुआजी की परिभाषा ही यही होती है कि उसे राजनीतिक सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त नहीं होती है, जोकि उसे अपना अलग घरेलू बाज़ार स्थापित करने और क़ायम रखने का अधिकार नहीं देती है। वह अन्य बुर्जुआ वर्गों द्वारा राजनीतिक तौर पर दमित होती है जोकि उसके आर्थिक विकास को भी स्वतंत्र नहीं होने देता और निर्भर बनाए रखता है। हमें पता नहीं किया सुखविन्दर आगे ऐसा नतीजा निकालेंगे या नहीं, लेकिन उनके द्वारा कही जा रही बातों में इसका स्पष्ट संकेत है। आगे बढ़ते हैं।

अब दूसरे सवाल पर आते हैं, जोकि सुखविन्दर के क़ौमी दमन के सिद्धान्त को पंजाब के ऊपर लागू करने से निकलता है।

दूसरा सवाल यह उठता है कि भारतीय शासक वर्ग यानी भारत की बड़ी बुर्जुआजी का राष्ट्रीय चरित्र क्या है? इसका इस सवाल से कोई रिश्ता नहीं है कि उसमें एक ही दमनकारी राष्ट्र शामिल है या कि वह कई दमनकारी राष्ट्रों के समझौते पर आधारित है, यानी उसका एक सम्मिश्रित बहुराष्ट्रीय चरित्र है, जैसाकि लेनिन ने ऑस्ट्रिया के मामले में बताया था। इस सवाल का सुखविन्दर कोई जवाब नहीं देते और ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक ऐसे शासक वर्ग की कल्पना करते हैं कि जिसका कोई राष्ट्रीय चरित्र ही नहीं है। ऐसा *अराष्ट्रीय* शासक वर्ग कोई नहीं होता, जोकि मंगल ग्रह से आया हो! शासक वर्ग का एकराष्ट्रीय चरित्र हो सकता है, या बहुराष्ट्रीय चरित्र। **ऐसा सुखविन्दर इसलिए करने को मजबूर हैं क्योंकि अगर वे मानेंगे कि भारतीय शासक वर्ग का बहुराष्ट्रीय चरित्र है और उसमें गुज़राती बुर्जुआजी के बाद क़ौमी मूल के तौर पर सम्भवत: सबसे शक्तिशाली बुर्जुआजी पंजाबी ही है, तो वह अन्तरविरोध में फँस जायेंगे।** क्योंकि फिर यह सिद्ध नहीं किया जा सकेगा कि पंजाब का क़ौमी दमन हो रहा है।

यानी सुखविन्दर पंजाब के क़ौमी दमन को साबित करने के लिए पहले तो यह दावा करते हैं कि बिना बुर्जुआजी के दमित हुए भी कोई क़ौम दमित हो सकती है; फिर दावा करते हैं कि राष्ट्रीय दमन करने वाला एक भारतीय शासक वर्ग है जिसका कोई राष्ट्रीय चरित्र नहीं है क्योंकि उन्हें पंजाबी बुर्जुआजी की उसमें हिस्सेदारी और भागीदारी को छिपाना है; और फिर कहते हैं कि केवल भाषाई दमन के आधार पर पंजाब एक दमित क़ौम है! **यानी कि पंजाबी क़ौम का दमन पूरी तरह से एक *इम्प्रेशनिस्टिक* मामला बन जाता है, यानी कि, चूँकि पंजाब में पंजाबी भाषा के साथ ग़ैर-बराबरी हो रही है, इसलिए पंजाबी क़ौम दमित क़ौम है। आगे एक भिन्न उपशीर्षक में हम आपको विस्तार से दिखलाएंगे कि पंजाब में पंजाबी भाषा के साथ जो अन्याय हो रहा है वह क्यों हो रहा है और कौन कर रहा है।**

हमने अब तक की अपनी चर्चा में देखा कि सुखविन्दर द्वारा प्रतिपादित ये चारों प्रस्थापनाएँ कितनी कमज़ोर बुनियाद पर खड़ी हैं कि (1) राष्ट्रीय प्रश्न औपनिवेशिक प्रश्न के बग़ैर अस्तित्व में आ सकता है; (2) राष्ट्रीय प्रश्न अग्रेरियन प्रश्न/भूमि संबंधी प्रश्न के बग़ैर अस्तित्व में आ सकता है (जिसे अलग से साबित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी); (3) राष्ट्रीय प्रश्न बिना किसी एक राष्ट्र के दबदबे/प्रभुत्व के (**dominant nation)** के अस्तित्व में आ सकता है; और (4) बुर्जुआजी के दमन के बिना भी राष्ट्रों का दमन हो सकता है और साथ ही हमने यह भी देखा कि पंजाब के राष्ट्रीय दमन को साबित करने के मक़सद से सुखविन्दर जो राजनीतिक व विचारधारात्मक धूम्रावरण खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं, वह उन्हें इस प्रश्न पर मार्क्सवादी चिन्तक नहीं बल्कि बुण्डवादी मसख़रे में तब्दील कर दे रहा है।

...

तो फिर राष्ट्रीय दमन होता क्या है?

राष्ट्रीय दमन की परिभाषा वास्तव में राष्ट्र और जनता के बीच के फ़र्क़ से ही स्पष्ट हो जाती है। राष्ट्र का अर्थ ही होता है एक ऐसी आबादी जिसमें पूँजीवादी विकास हो चुका है और बुर्जुआजी पैदा हो चुकी है। यदि जनता का ही दमन हो रहा है, लेकिन बुर्जुआजी का नहीं, तो सीधा प्रश्न यह बनता है कि उसकी बुर्जुआजी की इस दमन पर अवस्थिति क्या है? या तो वह दलाल बुर्जुआजी है, जोकि राष्ट्रीय दमन करने वाले दमनकारी क़ौम या क़ौमों के शासक वर्ग के मातहत हो चुकी है, राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र नहीं है और इसलिए 'राष्ट्रीय' नहीं है। या फिर वह बुर्जुआजी स्वयं दमित है।

वह इस दमन का कितनी आमूलगामिता से विरोध कर सकती है और राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई को लड़ सकती है, इससे उसके दमित होने या न होने के तथ्य का कोई रिश्ता नहीं है। दरअसल, आम तौर पर भी और विशेष तौर पर साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय बुर्जुआजी किसी भी दमित राष्ट्र की राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई में हमेशा ढुलमुल रवैया रखती है। यही वजह है कि लेनिन ने राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति और मुक्ति की लड़ाई के नेतृत्व को भी अपने हाथ में लेने के लिए सर्वहारा वर्ग का आह्वान किया और कहा कि *सामान्य जनवादी प्रक्रिया (general democratic process)* को पूरा करना साम्राज्यवाद के युग में *बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति* के फ्रेमवर्क के भीतर आम तौर पर सम्भव नहीं रह गया है और इस कार्यभार को बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में पूरा करना अब मुश्किल है। इसी के आधार पर लेनिन ने जनता की जनवादी क्रान्ति का सिद्धान्त दिया जोकि मज़दूर वर्ग, किसान वर्ग, छोटे पूँजीपति वर्ग और राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के सबसे आमूलगामी व क्रान्तिकारी तत्वों के साथ मोर्चा बनाकर सम्पन्न की जायेगी।

यानी, यदि कोई क़ौम दमित है तो उसकी बुर्जुआजी के दमन के बिना यह क़ौमी दमन सम्भव ही नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता है कि किसी दमित क़ौम की बुर्जुआजी राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र हो, न तो उसका कोई हिस्सा दलाल हो और न ही वह दमित हो। तीसरा विकल्प यह है कि वह बुर्जुआजी स्वयं शासक वर्ग का हिस्सा बन चुकी है। लेकिन ऐसी स्थिति में वह क़ौम दमित नहीं रह जाती है क्योंकि फिर आपको कहना पड़ेगा कि वह क़ौम स्वयं अपना दमन कर रही है! जोकि किसी भी पैमाने से एक बेतुकी बात होगी। सारी दुनिया के माओवादी इस बुनियादी मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त को समझते हैं। आइए कुछ प्रातिनिधिक उदाहरण देखते हैं।

ठीक ऐसी ही एक बहस कनाडा में क्यूबेक के दमित राष्ट्र होने या न होने को लेकर वहाँ के माओवादी संगठनों में चली जो इसी नतीजे पर पहुँची की चूँकि क्यूबेक की बुर्जुआजी दमित नहीं है और उसे कनाडा के शासक वर्ग में हिस्सेदारी प्राप्त हो चुकी है, इसलिए क्यूबेक की क़ौम भी दमित क़ौम नहीं है। उस बहस के एक दस्तावेज़ के एक अंश पर पर निगाह डालते हैं:

"क्यूबेक राष्ट्रीय प्रश्न पर एक से ज़्यादा अवस्थितियाँ हैं। साथ ही हितों के भी कई समुच्चय हैं जिनकी हिफ़ाज़त की जानी है। क्यूबेक बुर्जुआजी अपने हितों की स्वयं रक्षा करती है; कनाडा की बुर्जुआजी के अलग-अलग हिस्से भी ऐसा करते हैं। हम आम तौर पर यह सुनते हैं कि क्यूबेक राष्ट्रीय प्रश्न इन्हीं हितों से सम्बन्ध रखता है। यही वह चीज़ है जो यहाँ बहसतलब है और पिछले 30 वर्षों से इस विषय पर हो रहे विवाद की प्रकृति की व्याख्या करता है।

"**अपने राजनीतिक व आर्थिक विकास को अपने ही उपकरणों से निर्धारित करने वाली क्यूबेक बुर्जुआजी का अस्तित्व – जो एक "शक्तिशाली" राज्य को भी अपने में शामिल करती है – साफ़ तौर पर दिखलाता है कि एक राष्ट्र के तौर पर क्यूबेक ऐसे किसी भी दमन का शिकार नहीं है, जोकि इसके अपने विकास को रोकता हो और फिर इस बात को वैध ठहराता हो – जैसाकि कुछ लोग अभी भी हमें भरोसा दिलाना चाहते हैं – कि इस प्रान्त में राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल करने के लिए कोई *राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष* हो जिसमें सभी वर्ग शामिल हों।**"

कनाडा की माओवादी पार्टी 'रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी, कनाडा' यह पूरा दस्तावेज़ निम्न लिंक पर पढ़ा जा सकता है:

http://www.pcr-rcp.ca/en/archives/114

और ऐसी ही बहस स्कॉटिश बुर्जुआजी को लेकर भी मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों में ब्रिटेन में चल चुकी है, जोकि इसी नतीजे पर पहुँची कि **स्काटलैण्ड कोई दमित राष्ट्र नहीं है, *क्योंकि* उसकी बुर्जुआजी दमित नहीं है और उसे सत्ता में हिस्सेदारी प्राप्त हो चुकी है।** इनके दस्तावेज़ को इस लिंक पर पढ़ा जा सकता है:

https://archive.cpgb-ml.org/index.php?secName=proletarian&subName=display&art=1079

उपरोक्त दोनों ही मामलों में क्रमश: कनाडा व ब्रिटेन के मार्क्सवादी-लेनिनवादी कॉमरेडों ने बिल्कुल सही अवस्थिति अपनाई है। बिना बुर्जुआ वर्ग के दमन के क़ौमी दमन की अवधारणा ही अनावश्यक हो जाती है। ये तो सिर्फ़ दो मिसालें हैं। पूरी दुनिया में ही मार्क्सवादी-लेनिनवादी और माओवादी संगठन व पार्टियां मार्क्सवाद के इस बुनियादी सिद्धान्त को मानते हैं।

यह सुखविन्दर ही हैं जो अपनी ही जगहँसाई करने के दृढ़संकल्प के साथ नये सिद्धान्त-प्रतिपादन पर पिल पड़े हैं। इस जिद के पीछे दरअसल एक क़ौमवादी सोच है जिसे हम इस लेख में और आगे भी विस्तार से दिखलाएंगे।

राष्ट्रीय दमन का अर्थ है जब किसी राष्ट्र को उसकी इच्छा के विपरीत, यानी ज़बरन, किसी राज्य की सीमा में रखा जाय। ज़ाहिर है, यह क़ौम की बुर्जुआजी के दमन के बग़ैर मुमकिन नहीं है। यह किसी ऐसी क़ौम के साथ हो सकता है, जिसकी क्षेत्रीय सीमा दमनकारी क़ौम/क़ौमों के राज्य के साथ लगी हुई (जैसे कि आयरलैण्ड, या हमारे देश में कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्य) या फिर सात समन्दर दूर हों, जैसाकि हमारे द्वारा ऊपर पेश उद्धरणों में लेनिन व स्तालिन दोनों ने ही दिखलाया है। लेनिन ने 'आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम' लेख में एक अलग उपशीर्षक इसी बात को समझाने के लिए लिखा है, जिसमें उन्होंने बताया है कि इस मामले में हम यूरोप और एशिया, अफ्रीका आदि में कोई अन्तर नहीं कर सकते, जिस पर हम ऊपर बात कर चुके हैं। **उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आयरलैण्ड हो, पोलैण्ड हो, चेक राष्ट्र हो, या फिर एशिया व अफ्रीका के ब्रिटिश या फ्रेंच उपनिवेश हों, वे उपनिवेश/क़ब्ज़ा ही माने जायेंगे और *जहाँ तक राष्ट्रीय दमन का सवाल है*, वे दमित राष्ट्र ही हैं और उनके राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का केवल एक ही रास्ता है: राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार। और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का एक ही अर्थ है: राजनीतिक आत्मनिर्णय, यानी अलग होने का अधिकार।** इस अधिकार पर अमल करते हुए यदि कई राष्ट्र मिलकर कोई संघ बनाना चाहें, यूनियन बनाना चाहें, राष्ट्रीय स्वायत्तता की व्यवस्था चाहें, अलग होना चाहें, तो यह उनकी मर्जी है। कम्युनिस्टों का पहला काम है कि वे बिना किसी शर्त राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करें, चाहें वे उन राष्ट्रों को दमित मानते हों या नहीं। फिर याद दिला दें, हम यहाँ राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की बात नहीं कर रहे हैं, जिनकी कोई टेरिटोरियैलिटी नहीं होती है। उनके लिए कम्युनिस्ट कार्यक्रम एक सुसंगत जनवाद के लिए संघर्ष का कार्यक्रम होता है। जो साथी इस बात को समझना चाहते हैं वे लेनिन द्वारा तैयार 'बिल ऑन दि इक्वालिटी ऑफ नेशंस' (1914) तथा 'नेशनल इक्वालिटी बिल' (1914) के मसौदा पढ़ लें, जिससे कि आपको यह फ़र्क़ स्पष्ट हो जायेगा।

दूसरी बात यह कि *अलग होने के अधिकार का समर्थन* करना और *अलग होने का समर्थन* करना दो अलग चीज़ें हैं। हम अलग होने के अधिकार का समर्थन करते हुए, अलग होने के विरोध में जनता के बीच प्रचार कर सकते हैं। लेनिन ने इस अन्तर को बार-बार और बहुत-सी जगह स्पष्ट किया है।

"राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार का अर्थ अनन्य रूप से राजनीतिक अर्थ में स्वतन्त्रता का, उत्पीड़नकारी राष्ट्र से मुक्त राजनीतिक पृथकता का अधिकार है। **ठोस रूप में, राजनीतिक जनवाद की इस माँग का अर्थ है पृथकता के लिए आन्दोलन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा पृथक होने वाले राष्ट्र के जनमत संग्रह द्वारा पृथकता के प्रश्न का निर्णय। इसलिए यह माँग पृथकता की, राज्य के टुकड़े-टुकड़े करने की तथा छोटे राज्यों के गठन की माँग के बराबर कदापि नहीं है। वह सब तरह के राष्ट्रीय उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष की मात्र सुसंगत अभिव्यक्ति है।** कोई जनवादी राज्य प्रणाली पृथकता की पूर्ण स्वतंत्रता के जितने समीप होगी, पृथक होने की कामना व्यवहार में उतनी ही विरल और उतनी ही क्षीण होगी, इसलिए कि बड़े राज्यों के लाभ आर्थिक प्रगति के दृष्टिकोण से तथा जनसाधारण के हितों के दृष्टिकोण से अकाट्य होते हैं, इसके अलावा, वे पूँजीवाद के साथ बढ़ते जाते हैं। आत्मनिर्णय की मान्यता सिद्धान्त के रूप में संघ की मान्यता का पर्याय नहीं है। कोई इस सिद्धान्त का कट्टर विरोधी और जनवादी केन्द्रीयतावाद का पक्षधर हो सकता है, परन्तु इसके बावजूद वह पूर्ण जनवादी केन्द्रीयतावाद की ओर एकमात्र मार्ग के रूप में संघ को राष्ट्रों की असमानता पर तरजीह दे सकता है। ठीक इसी दृष्टिकोण से मार्क्स ने जो केन्द्रीयतावादी थे, आयरलैण्ड तथा इंग्लैण्ड के संघ तक को आयरलैण्ड को अंग्रेजों के ज़बरन मातहत रखे जाने पर तरजीह दी।" (लेनिन, 1983, *समाजवादी क्रान्ति और जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार*, **संकलित रचनाएं (दस खण्डों में) खण्ड-6**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 40-41)

और देखें लेनिन क्या कहते हैं:

"हर राष्ट्र के सिलसिले में उसके अलग हो जाने के प्रश्न का उत्तर "हाँ" या "नहीं" में देने की माँग बहुत "व्यावहारिक" प्रतीत हो सकती है। वास्तव में यह बिल्कुल बेतुकी माँग है, सिद्धान्त की दृष्टि से यह अधिभूतवादी है और व्यवहार में यह सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति वर्ग की नीति के अधीनस्थ करती है। पूँजीपति वर्ग अपनी राष्ट्रीय माँगों को सर्वदा सर्वोपरि स्थान देता है और ऐसा बिना किसी शर्त के करता है। परन्तु सर्वहारा वर्ग के लिए ये माँगें वर्ग संघर्ष के हितों के अधीन होती हैं। सिद्धान्तत: पहले से यह बात दावे के साथ कहना असम्भव होता है कि किसी राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र से अलग हो जाने से या उसके बराबर अधिकार प्राप्त कर लेने से पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति पूरी हो जायेगी; **दोनों ही सूरतों में**, सर्वहारा वर्ग के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अपने वर्ग के विकास को सुनिश्चित बनाए। पूँजीपति वर्ग के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि वह "अपने" राष्ट्र के उद्देश्यों को सर्वहारा के उद्देश्यों से आगे ठेलकर इस विकास में बाधा डाले। यही कारण है कि किसी राष्ट्र को कोई गारण्टी दिये बिना, किसी अन्य राष्ट्र के **हितों की कीमत पर** कुछ देने की हामी भरे बिना, सर्वहारा

वर्ग, कहना चाहिए, अपने आपको आत्मनिर्णय के **अधिकार** को स्वीकार करने की नकारात्मक माँग तक ही सीमित रखता है।" (लेनिन, 1981, **जातियों का आत्मनिर्णय का अधिकार**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ-23)

लेनिन आगे लिखते हैं:

"सर्वहारा वर्ग इस प्रकार की व्यावहारिकता के ख़िलाफ़ है। राष्ट्रों की बराबरी तथा राष्ट्रीय राज्य को स्थापित करने के उनके समान अधिकारों को स्वीकार करते हुए भी वह सभी राष्ट्रों के सर्वहारा गण की एकता को सबसे मूल्यवान समझता है, उसे सबसे ऊँचा स्थान देता है और हर राष्ट्रीय माँग का, हर राष्ट्रीय सम्बन्ध-विच्छेद का मूल्यांकन मज़दूरों के वर्ग संघर्ष **दृष्टिकोण से** करता है। व्यावहारिकता का यह आह्वान पूँजीवादी आकांक्षाओं को बिना सोचे-समझे मान लेने के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" (वही, पृ. 24)

लेनिन एक अन्य रचना में लिखते हैं:

"जिन लोगों ने इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार नहीं किया है, वे सोचते हैं कि उत्पीड़क राष्ट्रों के सामाजिक-जनवादियों के लिए "**अलगाव** की स्वतंत्रता" का आग्रह करना और साथ ही उत्पीडित राष्ट्रों के सामाजिक-जनवादियों के लिए "**एकीकरण** की स्वतन्त्रता" का आग्रह करना "अन्तरविरोधपूर्ण" है। मगर मामूली तौर से भी ग़ौर किया जाय, तो यह ज़ाहिर हो जायेगा कि परिस्थिति **विशेष** से अन्तरराष्ट्रीयतावाद तथा राष्ट्रों के एकीकरण की दिशा में **अन्य कोई** मार्ग इस लक्ष्य की दिशा में न है और न ही हो सकता है।"

(लेनिन, 1983, *आत्मनिर्णय सम्बन्धी बहस के परिणाम*, **संकलित रचनाएं (दस खण्डों में) खण्ड-6**, प्रगति प्रकाशन, मॉस्को, पृ. 115)

इसलिए लेनिन ने 1916 में पोलैण्ड के कम्युनिस्टों को सलाह दी कि वे पोलैण्ड के अलग न होने के पक्ष में प्रचार करें, लेकिन इसका यह अर्थ निकालने की उन्होंने मनाही की कि पोलैण्ड के *अलग होने के अधिकार* का समर्थन न किया जाय। इसी प्रकार हाल ही में कैटालोनिया के तमाम माओवादियों ने कैटालोनिया के अलग न होने का समर्थन करते हुए भी उसके अलग होने के अधिकार के समर्थन के तौर पर अलग होने या न होने के प्रश्न पर रेफ़रेण्डम का समर्थन किया, हालाँकि उसने स्पष्ट बताया कि वह अलग होने के पक्ष में नहीं है और वह इस रेफ़रेण्डम में 'नो' वोट करेगा। यही बात स्कॉटलैण्ड पर भी लागू होती है। **हम किसी भी क़ौम के अलग होने के *अधिकार* का समर्थन करने को एक सार्वभौमिक सिद्धान्त मानते हैं, लेकिन किन मामलों में अलग होने का समर्थन करना है और किन मामलों में विरोध, यह देश के अन्दर की और साथ ही अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के मूल्यांकन पर निर्भर करता है।** सुखविन्दर इन दोनों के बीच के अन्तर को नहीं समझते हैं। इसलिए यह देखना दिलचस्प होगा कि पंजाब को वह किस प्रकार दमित राष्ट्र दिखलाते हैं और फिर उसके लिए क्या कार्यक्रम पेश करते हैं।

क्योंकि यदि पंजाब दमित राष्ट्र है, तो सुखविन्दर को न सिर्फ़ उसके आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना चाहिए, बल्कि उन्हें उसके अलग होने का भी समर्थन करना चाहिए, क्योंकि आज राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही परिस्थितियों पर निगाह डालें, तो इससे सर्वहारा वर्ग का कोई नुक़सान नहीं है। पोलैण्ड के अलग होने का समर्थन न करने का प्रचार करने का सुझाव लेनिन ने पोलिश सामाजिक-जनवादियों को इसलिए दिया था, क्योंकि वह राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध (जिसका लेनिन समर्थन करते हैं) की बजाय साम्राज्यवादी युद्ध (जिसका लेनिन समर्थन नहीं करते) की ओर ले जाता और इसमें जर्मन, रूसी, पोलिश तीनों ही सर्वहारा वर्गों की हानि होती, और इसीलिए ***फ़िलहाल*** लेनिन ने अलग न होने का प्रचार करने की हिमायत की, हालाँकि तब भी वह *अलग होने के अधिकार* का बिना शर्त समर्थन कर रहे थे और ऐसा न करने के लिए पोलिश सामाजिक-जनवादियों की आलोचना कर रहे थे।

लेकिन *पंजाब अगर दमित क़ौम है* और वह अलग होता है, तो इससे कोई साम्राज्यवादी युद्ध नहीं छिड़ने वाला है और आन्तरिक तौर पर भी पंजाब के दमन को ख़त्म करने की लड़ाई का समर्थन करके ही पंजाबी व बाक़ी क़ौमों के सर्वहारा वर्ग के बीच एकता कायम की जा सकती है और भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध समाजवादी क्रान्ति की लड़ाई को भी आगे बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि क़ौमी दमन ही इस एकता को कमज़ोर करता है। तो *यदि पंजाब दमित राष्ट्र है, तो सुखविन्दर को इसके अलग होने के अधिकार का ही नहीं बल्कि मौजूदा परिस्थिति में उसके अलग होने का भी समर्थन व प्रचार करना चाहिए, न कि फ़ेडरेशन माँगने का, जोकि वैसे भी गलत है और पूँजीवाद के तहत ऐसी माँग भी करना कम्युनिस्टों के लिए ऑस्ट्रो-मार्क्सवादी सुधारवाद के गड्ढे में गिरने के समान है। साथ ही, मूल राजनीतिक माँग क्षेत्रीय स्वायत्तता की भी नहीं हो सकती है। वह माँग तब जायज़ हो सकती है, जब सभी क़ौमें जोकि एक साझे राज्य के अन्तर्गत बिना राष्ट्रीय दमन के किसी भी रूप के, एक साथ रहने का निर्णय करती हैं। उस सूरत में हमारी राजनीतिक माँग क्षेत्रीय स्वायत्तता (अक्षेत्रीय सांस्कृतिक स्वायत्तता के विपरीत) होती है। इसलिए यदि पंजाबी क़ौम दमित है तो एक ही माँग राजनीतिक तौर पर सही है: अलग होने का अधिकार और इस मामले में तो कम्युनिस्ट अलग होने के अधिकार का ही नहीं बल्कि अलग होने का भी समर्थन करेंगे, क्योंकि राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ इसके लिए बिल्कुल अनुकूल हैं। यह सारी बातें हम एक क्षण के लिए यह मानकर कर रहे हैं कि पंजाबी क़ौम दमित है, जैसाकि सुखविन्दर कह रहे हैं। वास्तव में, हम पंजाबी क़ौम को दमित क़ौम नहीं मानते हैं।* इसलिए हम बेसब्री से इन्तज़ार कर रहे हैं कि पंजाब में राष्ट्रीय दमन और उसके समाधान के प्रश्न पर सुखविन्दर कब और क्या लिखते हैं।

तो सुखविन्दर के अनुसार पंजाब की बुर्जुआजी दलाल भी नहीं है और दमित भी नहीं; लेकिन पंजाबी क़ौम दमित क़ौम है; तो यह पंजाबी बुर्जुआजी इस क़ौमी दमन पर क्या

(पेज 52 पर जारी)

विज्ञान

धरती पर जीवन का उद्‌भव और उद्विकास (इवोल्यूशन)

सनी सिंह

इन्सान और उसका समाज धरती पर जन्मा है और उसने प्राकृतिक शक्तियों को काबू में किया है। हमारी धरती खुद हमारे सितारे सूरज का टुकड़ा है और कार्ल सैगन के शब्दों में धरती पर जन्मा इन्सान सितारों की धूल ही है। वही सितारे जिनकी टिमटिमाहट छतों पर दिलों को सुकून देती है। भले ही वह रोशनी किसी ख़त्म हो चुके सितारे की हो, क्योंकि जो आसमान हम रात में देखते हैं वह और कुछ नहीं बल्कि उन सितारों की रोशनी के हम तक पहुँचने में हुई देरी से उभरता चित्र है। इन बुझे हुए और निरन्तर जल रहे सितारों का जीवन से क्या वास्ता?

प्रसिद्ध सोवियत कवि मयाकोव्स्की ने एक जगह कहा है कि कोई तो अर्थ होता होगा तारों के जलने का और किसी को तो होती होगी इनकी ज़रूरत। यह प्रश्न मानवता के समक्ष आदिम काल से मौजूद है कि सितारों की दुनिया और हमारी दुनिया के बीच क्या सम्बन्ध है? धरती पर मौजूद पेड़-पौधों से लेकर नदी, पहाड़, जंगल ज़मीन का मनुष्य से क्या वास्ता है? मनुष्य अपने उद्‌भव पर आदिकाल से चिन्तन करता रहा है। आधुनिक काल में प्राकृतिक विज्ञान ने अपने विकासक्रम में इस सवाल पर तरह-तरह के धार्मिक मकड़जालों को हटाकर साफ़ कर दिया है। इतिहास में पहले सितारों और धरती पर भौतिक वस्तुओं की गतिकी के अध्ययन से साफ़ नज़र होने के बाद इन्सान ने जैव जगत और अपने उद्‌गम का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। जीवन के रूपों के बदलाव को उद्विकास (इवोल्यूशन) कहते हैं और यह सवाल जीवन की उत्पत्ति से जुड़ा हुआ है। जीवाश्म, डीएनए और क्लैडिस्टिक्स के अध्ययन से जीवन के रूपों और उनके उद्विकास के नियमों को जाना गया है। 19वीं शताब्दी में जाकर ही उद्विकास और जीवन के उद्‌भव पर विज्ञान निर्णायक कदम उठा सका। कोपरनिकस ने सौर मण्डल को धर्म की बेड़ियों से काट तर्क के क्षेत्र में प्रवेश कराने का रास्ता खोला। जीव जगत में यह क़दम 19वीं शताब्दी में उठ सका या यूँ कहें कि यह तभी ही उठ सकता था। डार्विन के सिद्धान्त के लिए जिन प्रेक्षणों की ज़रूरत थी उनका भौतिक व वैचारिक आधार न्यूटन, गैलीलियो के बाद लायल ने ग्रहों और तारों व खुद धरती की सतह की गति के नियमों की पड़ताल के ज़रिये किया। 19वीं शताब्दी में ऊर्जा के रूपान्तरण के सिद्धान्त और कोशिका की खोज हो चुकी थी। लायल ने धरती की परतों और उनके कम्पन व उसकी भिन्नताओं और उनके विकास के विज्ञान को भूगर्भशास्त्र के रूप में स्थापित किया। इन सभी खोजों ने पुराने दर्शन जगत की बेड़ियों को काट विज्ञान के लिए यह नज़रिया साफ़ किया कि इन्सान से लेकर ब्रह्माण्ड जगत की समस्त अस्तित्वमान और ख़त्म हो चुकी सत्ताएँ पदार्थ जगत का हिस्सा हैं और वे निरन्तर बदलाव में हैं। इन बदलावों का अध्ययन ही प्राकृतिक विज्ञान में यांत्रिकी भौतिकी, रसायन शास्त्र व अन्य विशिष्ट विषयों को पैदा करता है।

ख़ैर, कोशिका और उद्विकास की खोज ने पदार्थ जगत से जीवन के उद्‌भूत होने पर मुहर लगा दी। चेतना पदार्थ जगत का ही एक गुण है इसे 19वीं शताब्दी के जीववैज्ञानिकों ने पुष्ट कर दिया। निश्चित ही उद्विकास के सिद्धान्त पर और जीवन के उद्‌भव पर समझ और गहरी होनी बाक़ी थी। आज 21वीं शताब्दी में हम डार्विन से आगे बढ़ चुके हैं, परन्तु वैज्ञानिको की जमात का एक हिस्सा विज्ञान जगत की नई खोजों की दुव्याख्या करके जीवन के उद्‌भव के सवाल और पदार्थ जगत को रहस्यमयी बना रहे हैं। क्वाण्टम इण्टेंगलमेन्ट पर हुए प्रयोगों पर शोध का ज्विंलिंगर सरीख़े वैज्ञानिक मूल्यांकन कर बता रहे हैं कि 'सूचना' आदिकाल से मौजूद है जिसके ज़रिये पदार्थ अस्तित्व में आता है व इस तरह वे चेतना के पदार्थ से पहले मौजूद होने की बात कहते हैं। पेनरोज़ भी शिद्दत से ऐसे भ्रम फैला रहे हैं। हाकिंग हालाँकि प्रगतिशील कहे जायेंगे और कई जगह उन्होंने ईश्वर पर चोट की है, परन्तु इसके बावजूद उनके चिन्तन में मौजूद संशयवाद से भाववादी दर्शन को काफ़ी जगह मिल जाती है। दूसरी तरफ़ वैज्ञानिकों का एक बड़ा हिस्सा ऐसा भी है जो कि भौंडे भौतिकवादी दृष्टिकोण से प्रस्थान करता है और यांत्रिक व रिडक्शनिस्ट नज़रिये से भौतिकवादी दुनिया को गतिहीन बना देता है और यदि गति स्वीकार करता भी है, तो उसके लिए बदलाव एकरेखीय और क्रमिक होता है। डॉकिंस नास्तिक हैं और नास्तिकता का प्रचार करते हैं लेकिन उनका दर्शन भौंडा भौतिकवादी दर्शन है। जीन में इन्सान के गुणों द्वारा तय होना बताकर वे असल में रिडक्शनिज़्म का सहारा लेते हैं और समाज की बुराइयों और अच्छाइयों को जीन में अपचयित कर देते हैं। मतलबी (सेल्फ़िश) जीन्स के ज़रिये वे सामाजिक डार्विनवाद के नये संस्करण पेश करते हैं मौजूदा

व्यवस्था में ग़ैर-बराबरी को सही ठहराते हैं। साथ ही वे डार्विन की भी जो व्याख्या पेश करते हैं वह छलाँग के ज़रिये विकास की जगह क्रमिक विकास को मानते हैं। खुद को प्राकृतिक दार्शनिक कहने वाले डॉकिंस सरीख़े कई भौंडे भौतिकवादी हैं जो लगातार ही विज्ञान जगत में धुँध फैला रहे हैं। यह एक आम परिघटना है।

आज फिर से विज्ञान को अधिक रहस्यवादी और अज्ञात में दैवीय शक्तियों को घुसाने के चलते वैज्ञानिक अन्धे रास्तों में भटक रहे हैं। वहीं सामाजिक ग़ैरबराबरी को वैज्ञानिक सिद्धान्तों का जामा पहनाने के प्रयास भी किये जा रहे हैं । यह बुर्जुआ विचारधारा का भी संकट है जिसकी अभिव्यक्ति डॉकिन्स और ज्विंलिंगर सरीख़े लोग करते हैं। मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच मौजूद ऐतिहासिक दीवार, ज्ञान और व्यवहार के बीच दरार, व शासक वर्ग के सचेतन प्रयास की वजह से भ्रमित दर्शनों को विज्ञान जगत में अभिव्यक्ति मिलती है। नज़रिये की यह अन्धता वैज्ञानिकों को बन्द दरवाज़ों पर सिर पटकने के लिए अभिशप्त करती है। वहीं विज्ञान व्यवस्थागत तौर पर गतिरोध का शिकार है। इसके पीछे मूल कारण वैचारिक अन्धता नहीं बल्कि व्यवस्थागत संकट है। बड़े शोध संस्थान से लेकर कॉलेजों तक विज्ञान में निवेश मुनाफ़े के आधार पर होता है। शोध भी मुनाफ़े की शर्त पर ही होता है। विज्ञान पूँजी की पूँछ पकड़कर चलने को मजबूर है। वहीं मुनाफ़ा-आधारित व्यवस्था युद्धों को जन्म देती है जिसमें विज्ञान, जो खुद एक उत्पादक शक्ति है, वह दुनिया के कोने-कोने में उत्पादक शक्तियों को तबाह करती है। इन दोनों कारणों के चलते ही विज्ञान जगत संकट का शिकार है।

वैज्ञानिकों का विभ्रम मीडिया चैनल व पॉपुलर पल्प फ़िक्शन के रूप में आम जनता के मानस पर ट्रिकल डाउन प्रभाव छोड़ता है। भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक पिछड़े पूँजीवादी देश में तो यह परिघटना और साफ़ देखने को मिलती है। भारत जैसे समाजों में सामन्ती मूल्य मान्यताओं के अवशेष आज भी बरकरार हैं, बल्कि उनका पूँजीवादी व्यवस्था ने तन्तुबद्धीकरण (आर्टिकुलेशन) किया है। कूपमण्डूकता और अन्धविश्वास हमारे समाज की पोर-पोर में समायी हुई है। इसरो से लेकर बड़े शोध संस्थानों में वैज्ञानिक अन्धविश्वासी होते हैं। आज भारत की सत्ता में बैठे संघी सोशल मीडिया, गोदी मीडिया, बस्ती से लेकर वैज्ञानिक मंचों तक अन्धविश्वास फैला रहे हैं और भारत की रीढ़विहीन वैज्ञानिकों की क़ौम महज़ काग़ज़ी प्रतिरोध कर चुप बैठी है।

इस लेख को लिखने का मक़सद यह उद्घाटित करना है कि वैज्ञानिक जगत में विचारधारात्मक धुन्ध मौजूद है जिसे साफ़ किये जाने की ज़रूरत है। इस लेख के ज़रिये हम धरती पर जीवन के उद्भव और उद्विकास पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवस्थिति पेश करेंगे। पृथ्वी पर जीवन का उद्भव कैसे हुआ यह सवाल विज्ञान का सवाल तो है ही, साथ ही दर्शन के जगत में अस्तित्व मीमांसा के प्रश्न पर भी यह सही समझदारी बनाता है। धरती पर जीवन की शुरूआत का जवाब भौतिकवादी दर्शन से ही सही दिया जा सकता है। उद्विकास और मानव के उद्भव के कुछ प्रश्नों पर भी आज बहसें जारी हैं। यह स्वाभाविक ही है। विज्ञान के सामने हमेशा एक क्षितिज होता है जिसे वह भेदता है और नए प्रश्नों और संदेहों का क्षितिज विज्ञान की प्रगति के साथ और आगे बढ़ जाता है। यही उसका द्वन्द्ववाद है। परन्तु आज विज्ञान द्वारा हासिल मुक़ामों पर भी धूल की परत चढ़ाई जा रही है। और ऐसे में यह महत्वपूर्ण कार्यभार बनता है कि उसे खोने न दिया जाये। 19वीं शताब्दी जिन प्रश्नों को सुलझा चुकी है उसपर दार्शनिक चाशनी डुबोकर नए रहस्यवादी विमर्श किए जा रहे हैं। 19वीं शताब्दी में लायल की भूविज्ञान की खोज, डार्विन की बीगल जहाज की यात्रा और हैकेल द्वारा धार्मिक पण्डों की बकवास का विरोध- यह वह काल है जब आधुनिक जीवविज्ञान ने जन्म लिया। इससे पहले की शताब्दियों में कोपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन और अन्य लागों ने ब्रहमाण्ड में सितारों, आकाशगंगाओं के बारे में समझदारी साफ़ की थी। पूरे भौतिक जगत के अस्तित्व में आने की और गुज़रते जाने की एक प्रक्रिया के रूप में तस्वीर खींची जा रही थी। विज्ञान ने कोशिका की खोज के ज़रिये, ऊर्जा के रूपान्तरण से विकास की खोज के ज़रिये प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता को सत्यापित किया। जीवाश्मों का अध्ययन और जीवन के रूपों का अध्ययन 19 वीं शताब्दी में विकसित होता है और इन्सान अपने उद्गम पर पहली बार वैज्ञानिक नज़रिया हासिल करता है।

उद्विकास और जीवन का उद्गम

मनुष्य की प्रजाति होमो होमो सेपिएन्स सहित तमाम प्रजातियाँ विकसित हो रही हैं। मनुष्य का उद्भव एक ऐसी प्रजाति से हुआ जो अब विलुप्त हो चुकी है। जैव जगत में तमाम प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं और आज का जीव जगत वैसा नहीं है जैसे यह पहले था। वायरस, बैक्टिरिया, लंगूर से लेकर केकड़ा सभी प्रजातियाँ पहले मौजूद प्रजातियों से विकसित होकर अस्तित्व में आई हैं। कई प्रजातियाँ एक ही प्रजाति से फूट कर पैदा हुई हैं जैसे पेड़ के तने से कई शाखाएं निकलती हैं। समुद्र की गहराई से लेकर रेगिस्तान की तपिश में जीवन अपनी विविधता के साथ मौजूद है। जीवन की इस विविधता की इकाई प्रजाति है। एक प्रजाति के जीवों के बीच भी अन्तर मौजूद होते हैं जबकि समानता आनुवंशिकता के कारण दिखती है। समानता और अन्तर का द्वन्द्व आनुवंशिकता और अनुकूलन के द्वन्द्व के रूप में उभरकर आता है। आज धरती पर नई प्रजातियों के साथ ही कई ऐसी प्रजातियाँ भी मौजूद हैं जो बेहद पुरानी हैं और कई प्रजातियाँ विलुप्त हो चुकी हैं। समुद्र की लहरों में बहकर आती सीपियाँ, जेली फिश की भिन्न प्रजातियों से लेकर गौरैया, कियारियों में मौजूद गिरगिट और रेगिस्तान के कैक्टस अलग प्राकृतिक परिस्थिति में रहते हैं और यह अपनी परिस्थितियों को भी अलग तरीके से प्रभावित करते हैं। जीवन के ही विकासक्रम में मानव का उद्भव हुआ जिसका मष्तिष्क उसे अन्य प्रजातियों से अलग करता है। मानव ने श्रम की प्रक्रिया

से पर्यावरण व अपने बीच भौतिक अंतरक्रिया को समझा और सचेतन तौर पर उसका इस्तेमाल किया। जीवन की आंतरिक गति को उसका पर्यावरण (जो कि कुल मिलाकर बेहद जटिल और निरन्तर परिवर्तनीय है) प्रभावित करता है और जीवन पलटकर इस बाह्य जगत को प्रभावित करता है। जीवजगत की सभी प्रजातियों में मानव न सिर्फ़ पर्यावरण को प्रभावित करता है अपितु वह जिस कदर प्रकृति को बदलता व प्रभावित करता वह कोई अन्य जीव नहीं कर सकता है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि मनुष्य ही वास्तव में पर्यावरण को पलटकर प्रभावित करता है जबकि अन्य जीव इसके अनुसार खुद को अनुकूलित करते हैं। वैसे देखा जाये तो बेहद सूक्ष्म स्तर पर असल में हर जीव अपने पर्यावरण को जैविक तौर पर प्रभावित करता है मसलन मकड़ी जाला बनाती है, चिड़िया घोसला बनाती है और ऊदबिलाव बाँध बनाते हैं। परन्तु ये उनकी नैसर्गिक जैविक क्रियाएँ है और इसके लिए वे सचेतन योजना नहीं बनाते हैं। परन्तु मनुष्य किसी कार्य को करने से पहले अपने दिमाग़ में उस कार्य की परिकल्पना कर उसे अंजाम देता है। इस अर्थ में मनुष्य जीवजगत की विशिष्ट प्रजाति बन जाता है। परन्तु मनुष्य और उसका समाज प्रकृति का ही विस्तार है। डार्विन ने मनुष्य और अन्य जीवों के उनके पर्यावरण के बीच सम्बन्ध को यांत्रिक तौर पर व्याख्यायित किया था। उनके अनुसार प्रकृति जीव का प्राकृतिक चयन करती है परन्तु उपरोक्त चर्चा से साफ़ है कि जीव भी पर्यावरण को प्रभावित कर उसका एक प्रकार से 'चयन' करता है। डार्विन से पहले जीवविज्ञान धर्मशास्त्रों के अवलोकन में ही समझा जाता था।

सभी धर्मों के शास्त्रों में जीवन के उद्भव को ईश्वरीय कारनामा बताया जाता है। परन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त तक यह समझदारी बदल गयी। वैज्ञानिक इस बात से सहमत थे कि प्रकृति जीवन के अस्तित्व में आने से पहले से मौजूद है। पाश्चर से लेकर हक्सली और हैकल के ज़रिये जीवविज्ञान स्थापित हो रहा था। लायल ने भूगर्भशास्त्र के विज्ञान का आधार रखा जिसने जीवविज्ञान के लिए राह खोलने का काम किया। धरती की सतहों और परतों के बनने और ख़त्म होने की वैज्ञानिक प्रक्रिया ने ही जीवन के उद्भव के सिद्धान्तों के लिए आधारशिला रखने का काम किया। पहले जीवन के रूपों को स्थैथिक माना जाता था। इसे लैमार्क और डार्विन के साथ 19वीं शताब्दी के कई वैज्ञानिकों ने चुनौती दी। सबसे महत्वपूर्ण क़दम डार्विन ने उठाया और उन्होंने यह दर्शाया कि जीवन के रूप बदलते हैं और यह बदलाव नियमों से बँधा है। डार्विन ने हर प्रजातियों में अन्तर और साथ ही एक प्रजाति के जीवों में अन्तर को रेखांकित किया। इस अन्तर को उन्होंने वैरिएशन कहा। जीव और उसके शावक में यह अन्तर कम होता है, हालांकि शावकों के बीच भी वैरिएशन मौजूद होते हैं। इसे ही आनुवंशिकता कहते हैं कि जीव अपने गुण अपने शावक को देते हैं। यह प्रक्रिया भी एककोशिकीय जीव और बहुकोशिकीय जीव जैसे मनुष्य में अलग तरीके से होती है। आनुवंशिकता और वैरिएशन का द्वन्द्व ही प्रजातियों के विस्तृत जटिल झुरमुट के विकास को नियम में बाँधता है।

डार्विन ने पर्यावरणीय, अन्तरजातीय, सजातीय प्रतियोगिता के ज़रिये प्राकृतिक चयन को उद्विकास का आधार बताया जिसके अनुसार प्रजातियों में क्रमिक बदलाव आते हैं। हालाँकि आज यह सिद्ध हो चुका है कि बदलाव सिर्फ़ क्रमिक नहीं बल्कि छलाँग के रूप में भी होते हैं। साथ ही जीवों में केवल प्रतियोगिता नहीं बल्कि सहयोगिता भी होती है। जीव, डार्विन की व्याख्या अनुसार, एटमाइज़्ड इंडिविजुअल न होकर ग्रुप व तमाम तरह से आपसी सम्बन्धों का एक व्यापक तानाबाना खड़ा करते हैं। हाँ, निश्चित ही इन सभी प्रक्रियाओं में जो अधिक 'फिट' होगा वह जिंदा रहता है। डार्विन की कमज़ोरियों की चर्चा पर हम आगे आयेंगे। डार्विन ने उद्विकास के पीछे जीवन के आन्तरिक कारण को उद्घाटित किया। उनके अनुसार कोई जीव अपने गुण अपने बच्चों में कुछ परिवर्तनों के साथ थमाता है। इन गुणों में परिवर्तन के पीछे डार्विन ने आनुवांशिक तत्वों को बताया जिनकी आपसी मिलावट से ही बच्चों के गुणों में मामूली परिवर्तन आते हैं। आज जीवविज्ञान इस बुनियादी समझदारी से आगे विकसित हो चुका है। डार्विन के कई तर्क ग़लत साबित हुए हैं। डार्विन उद्विकास के पीछे कार्यरत प्रेरक शक्तियों को, कार्य-कारण सम्बन्धों को समझने में और कुल मिलाकर पद्धति में यांत्रिक/अधिभूतवादी रहते हैं। लेकिन डार्विन का योगदान यह रहा कि उन्होंने जीवन के विकास में किसी भी दैवीय शक्ति के लिए हमेशा के लिए दरवाज़ा बन्द कर दिया।

डार्विन से अगला कदम मेंडल ने उठाया। मेंडल के सिद्धान्त के अनुसार एक जीव अपने बच्चों में जिन 'ट्रेट' यानी शारीरिक गुणों (फ़िनोटाइप कैरेक्टरस्टिक्स) को प्रदान करता है वह जीन पर निर्भर करते हैं। मेंडल ने डार्विन की इस अवधारणा को ग़लत साबित किया कि आनुवांशिक गुण पैनजैनेसिस के ज़रिये शावक में जाते हैं। मेंडल के अनुसार जीन की प्रकृति कण सरीख़ी होती है और हर पृथक जीन अलग गुण को व्याख्यायित करती है। हालाँकि आज यह अवधारणा विकसित हो चुकी है जिसपर हम आगे आयेंगे। मेंडल ने इस अवधारणा को सिद्ध करने के लिए 8000 से अधिक मटर के पौधों पर शोध किया। 20वीं शताब्दी में जीन की पहचान हुई जिससे वैरिएशन और नैचुरल सेलेक्शन को समझने का आधार मिल गया। जैनेटिक थ्योरी जो डार्विन के फ्रेमवर्क को मुख्यत: समाहित कर लेती है वह मॉडर्न सिंथेसिस कहलाती है। इसके बरक्स आधुनिक एक्सटेंडेड एवोल्यूशनरी सिंथेसिस का सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क उद्विकास की अधिक संतुलित व्याख्या करता है। इस फ्रेमवर्क में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है जहाँ प्रजातियों में क्रमिक प्रक्रिया से ही नहीं बल्कि छलाँग के ज़रिये भी बदलाव होते हैं। हम इस पर लेख की तीसरी कड़ी में बात करेंगे जब हम डार्विन, मेंडल और लैमार्क की अवधारणाओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

डार्विन से भी पहले लैमार्क ने कहा था कि प्रजातियों का उद्विकास होता है। हालाँकि उन्होंने कहा कि एक जीव अपने पर्यावरण के अनुरूप ढलने का प्रयास करता है और इस प्रकार से ही एक प्रजाति दूसरी प्रजाति में तब्दील हो जाती है। जैसे जिराफ़ ऊँचे पेड़ से पत्तियाँ खाने का प्रयास करता है तो उसकी गर्दन लम्बी हो जाती है। यह बदलाव जो एक जीव ने अर्जित किये हैं वह सन्तानों में चले जाते हैं। परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि जिराफ़ के अपने प्रयासों ने और परिस्थितियों ने उसे ढाल दिया है। साथ ही वे जीव जो प्रयास कर रहे थे उनकी सन्तानें भी पर्यावरण में अधिक फिट होंगी। परन्तु डार्विन ने इसे ग़लत बताया और कहा कि लम्बे और छोटे जिराफ़ वैरियेशन के कारण होते हैं और चूँकि लम्बे जिराफ़ ही पत्ती तक पहुँच सकते थे, इसलिए वे ही बच पाते हैं। डार्विन मुख्यत: इस बहस में सही साबित हुए। डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार एक जीव अपने जीवन काल में जो पर्यावरण के अनुरूप बदलाव करता है और जो गुण हासिल करता है वह उसकी सन्तानों में नहीं जाते हैं। जीवों में बदलाव का कारण वैरिएशन है जोकि जीव की सभी सन्तानों में होता है। इनके कारणों पर हम आगे विस्तारपूर्वक बात करेंगे। 1930 के दौर में यह व्याख्या हुई कि आनुवंशिकता के बुनियादी तत्व जीन होते हैं। जीवन की हर प्रजाति का हर जीव एक-दूसरे के अधिक समान होता है और दूसरी प्रजाति के जीव से अधिक असमान होता है। इस समानता और अन्तर का मापक जीन ही होता है। इन समानताओं और अन्तरों की एकता ही जीवन को व्याख्यायित करती है। यह अन्तर बदली हुई पर्यावरण की परिस्थितियों में बदलते फ़िनोटाइप (शारीरिक गुणों का कुल समुच्चय) जोकि जीनोटाइप (आनुवांशिक जीनों का कुल समुच्चय) और पर्यावरण के अन्तरसम्बन्ध पर निर्भर करता है। जीनोटाइप, फ़िनोटाइप के मतलब को हम आगे विस्तारपूर्वक समझाएंगे। जीवन और उसके उद्विकास को केवल डार्विन और मेंडल की अवधारणाओं के फ्रेमवर्क में नहीं समझा जा सकता है।

अगर फिलहाल कुछ बातें निचोड़ के तौर पर कहें तो जीव के शारीरिक गुण (फ़िनोटाइप) केवल जीन से नहीं तय होते हैं। वह पर्यावरण से अन्तरक्रिया में भी अपने गुण हासिल करता है। परन्तु ये गुण जीनोटाइप द्वारा सीमित (कन्स्ट्रेंड) होते हैं। गुण की अभिव्यक्ति परिमाणात्मक तौर पर जीन में होती है। गुण परिमाण में अभिव्यक्त होता है और परिमाण गुण में तब्दील होता है। यहाँ द्वन्द्ववाद का नियम खुद को बेहद सरल रूप में अभिव्यक्त करता है। यह होगा ही। इस अन्तरविरोध के विकसित होने, उसके तीव्र होने व नए में तब्दील होने की प्रक्रिया को समझने के लिए हमें इस अन्तरविरोध के उद्भव को समझना होगा।

किसी भी जीव का आन्तरिक विकास पर्यावरण से जीवन के लिए आवश्यक तत्वों को सोखकर मेटाबोलिज़्म के ज़रिये होता है। यह मेटाबोलिज़्म ही जीव को विकसित करता है और यही इसे मृत्यु तक लेकर जाता है। यह जीवन के सभी रासायनिक तत्वों की क्रिया जिसमें बड़े तत्वों का टूटना और छोटे रासायनिक तत्वों से बड़े रासायनिक तत्वों का बनना जारी रहता है। मेटाबोलिज़्म जीवन की परिभाषा में ज़रूरी है। यह एक जीव के भीतर जीवन और मृत्यु के अंतरविरोध का विकास ही है। जीवन की प्रक्रिया का अन्तरविरोध यही है कि जीवन अजैविक तत्वों को जीवन के तत्वों में तब्दील करता है। इस अन्तरविरोध का उद्भव ही जीवन के उद्भव के वक़्त होता है। इसलिए जीवन के उद्भव को समझना एक ज़रूरी कार्यभार बन जाता है। पुरानी प्रजातियों, जिनसे आज की प्रजातियाँ विकसित हुई हैं, के जीवित जीवाश्म मौजूदा प्रजातियाँ हैं। जीवन के सभी रूपों में बुनियादी रासायनिक यौगिक और उनकी संरचना में समानता होती है। इसलिए हम पहले जीवन की उत्पत्ति पर सही समझ बनाएंगे ताकि उद्विकास को ठीक तरीके से समझा जा सके। लेख के अगले हिस्से में हम इस प्रश्न पर ही विस्तारपूर्वक बात करेंगे कि जीवन की उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

(अगले अंक में जारी)

मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न पर चिन्तन के नाम पर बुण्डवादी राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और त्रॉत्स्कीपन्थ में पतन की त्रासद कहानी

(पेज 48 से आगे)

रागिणी गा रही है? वह कर क्या रही है? उसकी अवस्थिति क्या है? क्या वह इस दमन की भागीदार है? लेकिन तब तो मतलब यह निकला कि पंजाबी क़ौम अपना दमन स्वयं कर रही है! भारतीय शासक वर्ग है कौन, इसका कम्पोजीशन क्या है, उसमें पंजाबी बुर्जुआजी का क्या स्थान है? ये वे सवाल हैं, जो सुखविन्दर कभी पूछते ही नहीं क्योंकि उनके मूर्खतापूर्ण तर्कों का झोपड़ा, ये सवाल पूछते ही भरभरा कर गिर जाता है।

लुब्बेलुबाब यह कि सुखविन्दर ने राष्ट्रीय प्रश्न, राष्ट्रीय दमन पर लेख लिखने का काम तो कर दिया, लेकिन उन्होंने इस प्रक्रिया में यह दिखलाया कि उन्हें मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न पर बुनियादी रचनाओं का गम्भीरता से अध्ययन करने की सख्त ज़रूरत है। 107 पेज में 85 पेज उद्धरण भरकर वह अपनी बात को सही दिखलाने की कोशिश कर रहे हैं, लेकिन हम दिखला चुके हैं कि किस प्रकार वह अपने ही द्वारा पेश उद्धरणों के सन्दर्भों को नहीं समझते, उनके मतलब को नहीं समझते या फिर अपने राष्ट्रवादी भटकाव को छिपाने के लिए जानबूझकर उन्हें सन्दर्भों से काटते हैं और उनकी गलत व्याख्या करते हैं।

(पूरी आलोचना यहाँ पढ़ें: www.ahwanmag.com/archives/7567)

सामयिकी

भूख और बीमारी से मरते लोगों के बीच राम मन्दिर के भूमि पूजन का प्रहसन

सत्यकाम

जिस वक़्त देश में कोरोना महामारी भयावह रूप ले चुकी थी और रोज़ सैकड़ों लोग इससे मर रहे थे, अस्पतालों की हालत दयनीय थी और करोड़ों लोग बेरोज़गारी और भुखमरी के शिकार थे, उस समय मोदी सरकार क्या कर रही थी? मैं 'देश नहीं बिकने दूँगा' का जुमला उछालने वाले मोदी की सरकार देश की हर सम्पदा अपने लुटेरे मालिकों के हाथों में बेचने और विरोध की हर आवाज़ को कुचलने में जुटी हुई थी। बीमारी और बेरोज़गारी दोनों से लड़ने में पूरी तरह नाकाम सरकार को जनता का ध्यान भटकाने के लिए किसी नये तमाशे की तलाश थी। 5 अगस्त को अयोध्या में राम मन्दिर के भूमि पूजन का ईवेंट इसीलिए आयोजित किया गया था। भारत के बुर्जुआ संविधान में दर्ज धर्मनिरपेक्षता की धज्जियाँ उड़ाते हुए देश और उत्तर प्रदेश की लगभग पूरी सरकारें और उनके मुखिया पुराने राजाओं की तरह धार्मिक कर्मकाण्डों में लगे रहे और हर तरह से देश को बर्बाद करने वाले मोदी को "प्रतापी राजा" के रूप में पेश करने में गोदी मीडिया दिनोरात जुटा रहा। भाजपा के आईटी सेल ने तो विशालकाय मोदी को छोटे-से राम का हाथ पकड़कर मन्दिर में ले जाते हुए भी दिखा दिया।

यह तमाशा ऐसे समय में हो रहा था जब देश के करोड़ों मेहनतकश भुखमरी, बेरोज़गारी और बीमारी से जूझ रहे थे। कहने की ज़रूरत नहीं कि इन मेहनतकशों का क़रीब 85 फ़ीसदी हिन्दू ही हैं जिनको यह सपना दिखाया जा रहा है कि राम मन्दिर बनते ही उनके कष्ट छूमन्तर हो जायेंगे। हालाँकि सच्चाई यह है कि संघ और भाजपा जो "रामराज्य" और "हिन्दू राष्ट्र" बना रहे हैं उसमें ग़रीबों और मेहनतकशों को पेट पर पट्टी बाँधकर राम भजन करना होगा या कटोरा लेकर अयोध्या में बनने वाले राम मन्दिर के बाहर बैठना होगा! पढ़े-लिखे बेरोज़गारों की फ़ौज उसी मन्दिर के बाहर पकौड़े की दुकानें सजा सकती है। इस तथाकथित "हिन्दू राष्ट्र" के असली मालिक अम्बानी, अडानी और दूसरे पूँजीपति ही हैं जिनकी दौलत बढ़ाने के लिए मज़दूरों की हड्डियाँ तक निचोड़ डालने की छूट दी जा रही है।

पिछले वर्ष मन्दिर के बारे में सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के बाद से ही कुछ लोग कह रहे हैं कि इस फ़ैसले को सभी को स्वीकार कर लेना चाहिए और बीती बातों को भुलाकर आगे बढ़ना चाहिए। मगर वे भूल रहे हैं कि दरअसल यह आस्था का मामला है ही नहीं! राम मन्दिर शुरू से ही राजनीति का मसला रहा है और आज भी है। 1992 में बाबरी मस्जिद ढहाने के समय नारे लगाये गये थे कि "अभी तो बस ये झाँकी है, मथुरा-काशी बाक़ी है।" अब भूमि पूजन के बाद ही जामा मस्जिद से लेकर ताज़ महल तक के नीचे हिन्दू मन्दिर होने की बातें भाजपाइयों की ओर से उछाली जाने लगी हैं।

कोरोना के भीषण संकट के बीच आनन-फ़ानन में यह आयोजन करने का मतलब क्या है? थोड़ा ध्यान से सोचें तो आपको याद आ जायेगा कि जब-जब मन्दिर मसले को उछाला गया है, तब-तब देश किसी न किसी राजनीतिक या आर्थिक संकट का शिकार था। 1949 में जब कुछ साम्प्रदायिक तत्वों ने बाबरी मस्जिद के गुम्बद के नीचे राम की मूर्तियाँ रख दी थीं, उस समय आज़ादी के बाद देश की पूँजीवादी सत्ता अभी स्थिरीकरण की प्रक्रिया में थी और देश के कई हिस्सों में किसान संघर्ष चल रहे थे। देश दरिद्रता की स्थिति में था। दूसरी ओर, आरएसएस गाँधी की हत्या के बाद बुरी तरह अलग-थलग पड़ चुका था और हिन्दुओं में पैठ बनाने की कोशिशों में लगा हुआ था। 1986 में जब मस्जिद का ताला खुलवाया गया और बाद में शिलान्यास हुआ तब भी देश घोर आर्थिक संकट से गुज़र रहा था; बेरोज़गारी भयंकर रूप अख़्तियार कर चुकी थी, मुद्रास्फीति का हाल बुरा था और विदेशी कर्ज़ से देश की अर्थव्यवस्था चरमरा रही थी। फिर 1990 के दशक की शुरुआत में जब मन्दिर का मुद्दा उछाला गया तो देश की अर्थव्यवस्था डावाँडोल थी; देश का सोना गिरवी रखा जा चुका था; महँगाई आसमान छू रही थी; बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार और ग़रीबी से देश की जनता में भयंकर ग़ुस्सा था।

ये सारे मौक़े ऐसे थे, जिसमें शासक वर्गों को इस बात की दरकार थी कि जनता का ध्यान उन वास्तविक मुद्दों से हट जाये जिनका उसकी ज़िन्दगी पर असर पड़ता है। इसके लिए धार्मिक उन्माद के कार्ड का अलग-अलग समय पर इस्तेमाल किया गया। कहने की ज़रूरत नहीं कि आज फिर देश ऐसी ही परिस्थिति से गुज़र रहा है। अर्थव्यवस्था अभूतपूर्व संकट की गिरफ़्त में है। बेरोज़गारी और महँगाई चरम पर हैं। उद्योग, व्यापार, खेती सब संकट में हैं। महामारी से निपटने में सरकार पूरी तरह नाकाम है। आबादी के उन तबक़ों पर भी अब आर्थिक संकट की मार पड़

रही है जो मोदी के समर्थक रहे हैं और उनका धैर्य जवाब दे रहा है। किसी भी समस्या का वास्तविक जवाब इस सरकार के पास नहीं है। उल्टे, यह दोनों हाथों से देश की सम्पदा देशी-विदेशी लुटेरे पूँजीपतियों के हवाले करने में लगी हुई है। घोटालों और भ्रष्टाचार के रिकॉर्ड टूट रहे हैं। भोंपू मीडिया के ज़रिये दिनो-रात जारी झूठे प्रचार से लोगों को हमेशा बेवक़ूफ़ बनाये रखा जा सकता है, इस पर संघियों को अब ख़ुद भी भरोसा नहीं रह गया है। ऐसे में मन्दिर का मुद्दा उनके हाथों में फिर से एक हथियार होगा जिसके ज़रिये वे कुछ और सालों तक लोगों को भरमाये रख सकते हैं, ऐसा उनका सोचना है। उन्हें लगता है कि कभी मन्दिर निर्माण का ट्रस्ट बनाकर, कभी इसका भव्य भूमि पूजन करके तो कभी मन्दिर निर्माण शुरू करवाकर वे अगले कुछ वर्षों तक इसकी फ़सल काट सकते हैं और अगला आम चुनाव भी जीत सकते हैं। मगर ज़रूरी नहीं कि संघियों की यह सोच कामयाब ही हो।

तथ्य यह है कि बुर्जुआ क़ानून और संविधान के तमाम उसूलों को ताक पर रखकर सुप्रीम कोर्ट ने "बहुसंख्यक हिन्दुओं की भावनाओं" का ध्यान रखकर यह फ़ैसला दिया था। और तो और, अपने ही फ़ैसले में सुप्रीम कोर्ट ने मूर्तियाँ रखी जाने, बाबरी मस्जिद गिराये जाने, पुरातात्विक साक्ष्यों आदि के बारे में जो बातें कही हैं, उनके भी विपरीत जाकर ऐसा फ़ैसला दिया है जिसे क़ानून के नज़रिये से किसी भी तरह सही ठहराया ही नहीं जा सकता।

जैसाकि सुप्रीम कोर्ट के पूर्व जज न्यायमूर्ति अशोक गांगुली ने कहा है कि संविधान के लागू होने के पहले वहाँ क्या था, यह सुप्रीम कोर्ट की ज़िम्मेदारी नहीं है। जब वह इमारत बनी तब भारत कोई लोकतांत्रिक गणतंत्र नहीं था। तब वहाँ एक मस्जिद थी, एक मन्दिर था, एक बौद्ध स्तूप था, या कुछ और था। अगर हम इस तरह अतीत के सवालों पर फ़ैसला देंगे तो बहुत सारे मन्दिर, मस्जिदें और अन्य ढाँचों को तोड़ना पड़ेगा। हम पौराणिक तथ्यों पर नहीं जा सकते। राम कौन थे? क्या किसी तरह का ऐतिहासिक साक्ष्य है? यह आस्था और विश्वास का मामला है। इन पर अदालत के फ़ैसले नहीं हुआ करते।

यह फ़ैसला कितना अजीबो-ग़रीब था, इसे कुछ उदाहरणों से देखा जा सकता है। अपने फ़ैसले में सुप्रीम कोर्ट ने माना है कि बाबरी मस्जिद 1528 में बनी थी। भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण (ए.एस.आई.) की 2002-03 की रिपोर्ट के हवाले से अदालत ने यह भी कहा कि कहीं भी यह साबित नहीं होता कि बाबरी मस्जिद किसी मन्दिर को तोड़कर बनायी गयी थी। कोर्ट ने यह भी कहा कि 1934 में मस्जिद को क्षतिग्रस्त किया गया। यह भी माना कि 1949 में मस्जिद में कुछ लोगों ने मूर्ति रखकर ग़ैर-क़ानूनी काम किया। फिर यह भी कहा कि 1992 में मस्जिद को ढहाया जाना ग़लत था! फ़ैसले के पैरा 798 में कहा गया कि "मुसलमानों को पूजा और उस स्थल पर अधिकार से बहिष्कृत करने का काम 22-23 दिसम्बर 1949 की रात को हुआ जब हिन्दू मूर्तियाँ रखकर मस्जिद को अपवित्र कर दिया गया। मुसलमानों को वहाँ से बाहर किया जाना किसी क़ानूनी प्राधिकार के ज़रिये नहीं हुआ, और उन्हें एक ऐसी मस्जिद से ग़लत ढंग से वंचित कर दिया गया जिसका निर्माण 450 वर्ष से भी ज़्यादा पहले हुआ था।"

सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि 1885 में राम चबूतरा को असली जन्मस्थान माना गया था। यह भी माना कि 1857 में भीतरी और बाहरी परिसर को अंग्रेज़ों ने दीवार बनाकर अलग-अलग कर दिया था। भीतरी परिसर में मस्जिद प्रबन्धन का क़ब्ज़ा और अधिकार था। राम चबूतरा बाहरी परिसर में है। अदालत ने यह भी माना कि राम चबूतरा पर मन्दिर बनाने के दावे को 1885 में अदालत ने ख़ारिज कर दिया था। यह भी कहा कि 1992 में मस्जिद तोड़ने वालों ने राम चबूतरा को भी तोड़ दिया था।

ए.एस.आई. ने अदालत को 574 पेज की रिपोर्ट सौंपी थी। अयोध्या में खुदाई करने वाले पुरातत्वविदों के बीच कभी सर्वसम्मति नहीं बन पायी। इसीलिए कई तरह के दावे किये गये हैं। कुछ ने कहा कि मन्दिर के नीचे का अवशेष 'पुराना ईदगाह' है, कुछ ने उसे बौद्ध और जैन प्रतीक करार दिया। खुदाई करने वाली टीम का अवलोकन करने वाली दो सदस्य सुप्रिया वर्मा और जया मेनन ने हाई कोर्ट में कहा था कि कुछ प्रतीकों को 'हिन्दू प्रतीक' कहा जा रहा है, जबकि ये बौद्ध, जैन या इस्लामिक ढाँचे भी हो सकते हैं। सुप्रीम कोर्ट ने अपने फ़ैसले में ए.एस.आई. की उसी रिपोर्ट का हवाला देते हुए कह दिया कि ज़मीन के नीचे का अवशेष 'हिन्दू अवशेष' है। हालाँकि अदालत ने भी यह नहीं कहा कि वह राम मन्दिर के अवशेष हैं।

इतनी बातों के बाद भी मस्जिद की जगह मन्दिर बनाने के लिए देने का फ़ैसला केवल इस आधार पर दिया गया कि बहुसंख्यक हिन्दू मानते हैं कि वह राम का जन्मस्थान है! वैसे, पूछा यह भी जाना चाहिए कि अदालत ने कौन-से सर्वेक्षण से यह पता लगाया कि बहुसंख्यक हिन्दू यही मानते हैं। क्या उसने भाजपा और संघ की राय को ही बहुसंख्यक हिन्दुओं का विश्वास मान लिया? फ़ैसले में यह भी कहा गया कि चूँकि मस्जिद को ग़लत ढंग से गिराकर मुसलमानों के साथ अन्याय हुआ इसलिए उन्हें थोड़ी दूरी पर पाँच एकड़ ज़मीन मस्जिद बनाने के लिए दे दी जाये। क़ानून के नज़रिये से यह ऐसा ही हुआ कि कोई ज़बरन किसी के घर को ढहा दे और अदालत कहे कि घर को गिराना ग़लत था मगर चूँकि गिराने वालों का विश्वास था कि यह उन्हीं का घर है इसलिए अब उस ज़मीन पर वे अपना घर बनायेंगे और उस घर के पुराने बाशिन्दों को कहीं और जगह दे दी जायेगी। अगर क़ानून के बजाय ऐसी दादागीरी से समाज चलने लगे तो सोचा जा सकता है कि अंजाम क्या होगा!

इतिहास में पहले जो घटनाएँ घटित हुईं उनका हिसाब वर्तमान में चुकता नहीं किया जा सकता और न किया जाना चाहिए। इतिहास को पीछे नहीं ले जाया जा सकता और न ले जाया जाना चाहिए। आज का ज़िन्दा सवाल यह है ही नहीं। जिस

देश में तीन-चौथाई से भी ज़्यादा आबादी भयंकर ग़रीबी में जीती हो, जहाँ के बच्चों की आधी आबादी कुपोषित हो; जहाँ 30 करोड़ बेरोज़गार सड़कों पर हों; जहाँ एक चौथाई आबादी बेघर हो या झुग्गियों में ज़िन्दगी बिता रही हो, जहाँ के 60 करोड़ मज़दूर अमानवीय हालात में जीने और हाड़ गलाने पर मजबूर हों, और जहाँ समाज घृणित धार्मिक-जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न और स्त्रियों के बर्बर उत्पीड़न के दंश को झेल रहा हो, वहाँ मन्दिर और मस्जिद का सवाल प्रमुख कैसे हो सकता है? वहाँ इतिहास के सैकड़ों वर्ष पहले हुए अन्याय का बदला लेना मुद्दा कैसे हो सकता है, जबकि वर्तमान समाज में अन्याय और शोषण के भयंकरतम रूप मौजूद हों?

और अगर यह मुद्दा है तो हर उस स्थान के इतिहास को पीछे जाकर देखा जाना चाहिए जहाँ आज कोई मन्दिर या मस्जिद है। उसी जगह पर न जाने उससे पहले कितने क़िस्म के धर्मस्थल रहे होंगे। आप किस-किसको तोड़ेंगे और किस-किसको बनायेंगे? इस मामले पर ज़रा-सा तार्किक विचार करते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह कितना निरर्थक, पीछे ले जाने वाला और प्रतिक्रियावादी है। इतिहास को पीछे ले जाने वाली ताक़तें ही आज इसका इस्तेमाल कर रही हैं और जनता के पिछड़ेपन का और वर्ग चेतना के अभाव का लाभ उठाकर उसे इन मुद्दों से भरमा रही हैं। उनकी दिलचस्पी आज ग़रीब मेहनतकश आबादी के साथ हो रहे अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने में नहीं है जो वास्तव में इतिहास को आगे ले जाता। उनकी दिलचस्पी सुदूर अतीत में हुए किसी ऐसे अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने में है, जिसके बारे में दावे से कहा भी नहीं जा सकता है कि वह हुआ था भी या नहीं। साम्प्रदायिक फ़ासीवाद ऐसी ही एक ताक़त है जो आम भारतीय जनता के बीच तार्किक दृष्टि की कमी, वर्ग चेतना की कमी, वैज्ञानिकता की कमी का फ़ायदा उठाते हुए उसे धर्म के आधार पर बाँट देती है। पूँजीपति वर्ग के लिए यह एक बहुत बड़ी सेवा साबित होती है क्योंकि यह सर्वहारा वर्ग के भी एक बड़े हिस्से को एक ऐसे सवाल पर आपस में बाँट देता है जो वास्तव में उसके लिए कोई सवाल है ही नहीं।

दरअसल, धर्मनिरेपक्षता के नज़रिये से आधी लड़ाई उसी दिन हार दी गयी थी जब इस सारे मामले को एक 'टाइटिल सूट' यानी मालिकाना हक़ की लड़ाई में तब्दील कर दिया गया था। शुरू से ही भाजपा, विश्व हिन्दू परिषद और आर.एस.एस. के राम मन्दिर आन्दोलन का विरोध इस तर्क के आधार पर किया जाना चाहिए था कि सैकड़ों साल पहले हुई घटनाओं का आज बदला लेने की बात का कोई मतलब नहीं है। कांग्रेस और दूसरी पूँजीवादी पार्टियों से तो ऐसी कोई उम्मीद करना फ़िज़ूल ही था क्योंकि उनकी तथाकथित धर्मनिरपेक्षता तो शुरू से ही "सर्वधर्म समभाव" के नाम पर ज़्यादातर हिन्दू बहुसंख्या का और कभी-कभी मुस्लिम अल्पसंख्या का तुष्टिकरण करने के रूप में ही सामने आती रही है। धार्मिक कार्ड का सभी अपने-अपने चुनावी हितों के हिसाब से इस्तेमाल करती रही हैं। मगर ख़ुद को वामपंथी कहने वाली संसदीय पार्टियों ने भी कभी इस दृष्टिकोण को मज़बूती से सामने नहीं रखा। वे भी धर्मनिरपेक्षता के नाम पर कभी मुलायम सिंह यादव तो कभी कांग्रेस का पुछल्ला बनी रहीं और भाजपा व संघ के तर्कों को जनता के बीच स्थापित करने में मददगार बनती रहीं। देश में क्रान्तिकारी वाम की ताक़तें एक तो खण्ड-खण्ड में बिखरी हुई थीं, दूसरे उनमें भी ज़्यादातर ग्रुपों में इस मसले पर सही सर्वहारा दृष्टिकोण को लोगों के बीच लेकर जाने के साहस का अभाव रहा।

आज हमें एक सही वैज्ञानिक दृष्टि अपनाते हुए इन अनैतिहासिक और अतार्किक सवालों को दरकिनार करके शासक वर्गों की साज़िश को समझने की ज़रूरत है। वास्तव में आज की लड़ाई आज के अन्याय के ख़िलाफ़ है। आज का पूँजीवादी शोषण और अन्याय सर्वहारा वर्ग का सबसे बड़ा दुश्मन है और हमारा पूरा संघर्ष उसके ख़िलाफ़ होना चाहिए। हमें साम्प्रदायिकता के झाँसे में आकर मन्दिर-मस्जिद के झगड़े में नहीं फँसना चाहिए। हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली तमाम पार्टियाँ, चाहे वह कांग्रेस हो, भाजपा हो, सपा हो या बसपा, मन्दिर के मुद्दे के इर्द-गिर्द अपनी-अपनी तरह से जनता को बाँटना चाहती हैं। दरअसल, आम जनता का एक बड़ा हिस्सा इस बात को समझने भी लगा है। एक यह भी कारण था कि पिछले वर्ष फ़ैसला आने या इस वर्ष भूमि पूजन के बाद इस मुद्दे पर कोई तीखा ध्रुवीकरण नहीं किया जा सका। लेकिन हमें समाज में लगातार इस प्रतिक्रियावादी सोच के विरुद्ध लड़ना होगा जो इतिहास के काल्पनिक अन्यायों के लिए आज आम मेहनतकश जनता की बलि चढ़ाना चाहती है। यह सोच मज़दूर वर्ग और पूरे इतिहास की दुश्मन है।

जन्मदिवस (28 सितम्बर) के अवसर पर

लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की ज़रूरत है। ग़रीब मेहनतकश व किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं, इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए और इनके हत्थे चढ़ कुछ न करना चाहिए। संसार के सभी ग़रीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग, नस्ल और राष्ट्रीयता व देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताक़त अपने हाथ में लेने का यत्न करो। इन यत्नों में तुम्हारा नुक़्सान कुछ नहीं होगा, इससे किसी दिन तुम्हारी ज़ंजीरें कट जायेंगी और तुम्हें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।

– भगतसिंह

एनजीओ : देशी-विदेशी पूँजी की फ़ण्डिंग से जन-असन्तोष के दबाव को कम करने वाले सेफ़्टी वॉल्व

कविता कृष्णपल्लवी

'एनजीओ ब्राण्ड सुधारवाद' आम सुधारवाद से भी बहुत अधिक ख़तरनाक होता है, उसे देशी-विदेशी पूँजी ने अपनी तथा पूरी बुर्जुआ व्यवस्था की सेवा के लिए ही संगठित किया है—इस बात को समझना आज बहुत ज़रूरी है।

एनजीओ आज देश के कोने-कोने में पसर गये हैं। ये किसी एक समस्या पर या कुछ समस्याओं (जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य) पर काम करने की बात करते हैं और इनको मुख्यतया बड़ी-बड़ी फ़ण्डिग एजेंसियों से पैसे मिलते हैं। ये सारी फ़ण्डिंग एजेंसियाँ बड़े-बड़े कॉरपोरेट घरानों द्वारा सीधे संचालित होती हैं जैसे फ़ोर्ड फ़ाउण्डेशन, गेट्स फ़ाउण्डेशन, रॉकफ़ेलर फ़ाउण्डेशन, भारत में नीता अम्बानी फ़ाउण्डेशन, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन आदि-आदि। ये जनता को बोलते हैं कि आप ख़ुद अपनी समस्याओं के लिए ज़िम्मेदार हैं और हम कॉरपोरेट से लायी भीख से आपकी उस समस्या का समाधान कर देंगे। कॉरपोरेट घराने जनता से सौ रुपये लूटकर चवन्नी वापस जनता को दान कर देते हैं और जनता के बीच ये भ्रम फैलाते हैं कि पूँजीवाद कितना सन्त है!

एनजीओ की धारणा को भी स्पष्ट कर लेना बहुत ज़रूरी है। पहली बात, जन-संगठन और संस्था दो चीज़ें होती हैं। अगर सख़्त क़ानूनी परिभाषा के हिसाब से देखें तो सभी पंजीकृत या गैर-पंजीकृत ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ—ट्रस्ट, सोसाइटी आदि—एनजीओ (नॉन गवर्नमेंटल ऑर्गनाइज़ेशन) कहलाएँगी। पर हमारा तात्पर्य देशी-विदेशी पूँजी- प्रतिष्ठानों द्वारा स्थापित फ़ण्डिंग एजेंसियों से वित्त-पोषित होने वाले उन दैत्याकार देशव्यापी ढाँचों वाले एनजीओ से है जो भारत ही नहीं, पूरी तीसरी दुनिया—एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के देशों में अपने पंजे फैलाये हुए हैं।

बहुत सीधा सवाल है कि मुनाफ़े के लिए मज़दूरों की हड्डियाँ निचोड़ने वाले और दुनिया को बार-बार विनाशकारी युद्धों में धकेलने वाले साम्राज्यवादी-पूँजीवादी लुटेरों में इतनी मानवता भला क्यों जाग उठती है कि वे गरीब देशों के बच्चों की भूख मिटाने, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और औरतों की ख़ुदमुख़्तारी और आज़ादी के लिए इतने चिन्तित हो उठते हैं कि इस काम में सालाना अरबों डॉलर लगा देते हैं। इस पर सैकड़ों शोध-पत्र और दर्ज़नों किताबें छप चुकी हैं। पहली बात तो 172 वर्षों पहले कार्ल मार्क्स ने ही स्पष्ट कर दी थी कि दमित-उत्पीडित मज़दूर वर्ग की विकासमान वर्ग-चेतना को कुन्द और भ्रष्ट करने के लिए दुनिया भर का पूँजीपति वर्ग अपने निचोड़े गये अधिशेष का एक छोटा-सा हिस्सा सुधार और चैरिटी के कामों पर ख़र्च करता है। यानी एनजीओ नेटवर्क का मुख्य काम है वर्ग-संघर्ष के उभारों को रोकना, उनकी भड़कती आँच पर पानी के छींटे मारते रहना। ये सभी एनजीओ तीसरी दुनिया के ग़रीब देशों में इसलिए काम करते हैं क्योंकि यहीं पर शोषण-उत्पीड़न ज़्यादा है और पश्चिम के पूँजीवादी "स्वर्गों" की अपेक्षा क्रान्ति की आग भड़कने का ख़तरा इन देशों में सबसे अधिक है। जबसे नव-उदारवाद का दौर चला है और राज्य ने कीन्सियाई नुस्ख़ों से पीछे हटते हुए सार्वजनिक राशन-वितरण, शिक्षा, स्वास्थ्य और गरीब-कल्याण की सभी योजनाओं से हाथ खींचना शुरू कर दिया है, तबसे इन बुनियादी जन-अधिकारों को भीख, दान और दया-धरम की चीज़ बना देने वाले एनजीओ की भूमिका और बढ़ गयी है।

एनजीओ वाले एक और काम यह करते हैं कि बहुत सारे संवेदनशील और ज़हीन युवाओं को "समाज बदलने" का एक सुगम मार्ग बता देते हैं, "वेतनभोगी बनकर कुछ राहत और सुधार के काम करते रहो, मन को तसल्ली देते रहो, क्रान्ति-व्रान्ति के जोखिम, तकलीफ़ और अनिश्चितता भरे काम में ज़िन्दगी और करियर क्यों तबाह करोगे?" मध्यवर्गीय नौजवानों का एक बड़ा हिस्सा जो बेरोज़गारी से परेशान होता है, वह लाखों की तादाद में इस एनजीओ नेटवर्क में सर्वेयर, मुलाज़िम आदि बनाकर बेरोज़गारी भत्ते बराबर वेतन पर ज़िन्दगी काट देता है और रोज़गार के अपने जनवादी अधिकार पर संगठित होकर लड़ने के रास्ते से दूर हो जाता है।

यह तो हुआ एनजीओ का राजनीतिक लक्ष्य। इस पर भी बहुत साहित्य मौजूद है कि किस प्रकार एनजीओ अपने आप में बुर्जुआ उत्पादन का एक ऐसा सेक्टर बन गया है, जिसमें सहकारिता आदि का गठन करके श्रमशक्ति का अपार दोहन किया जाता है और विशेषकर स्वावलम्बिता के नाम पर स्त्रियों को ठगा जाता है। इसके अतिरिक्त एनजीओ बड़ी पूँजी के लिए बाज़ार-विकास की सम्भावनाओं का अध्ययन करने और सस्ता श्रम-बाज़ार विकसित करने का भी काम करते हैं। किस तरह एनजीओ के ज़रिये लोगों को खतरों और दुष्प्रभावों के बारे में बताये बिना, फ़ार्मास्यूटिकल कम्पनियाँ दवाओं का परीक्षण करती रही हैं और आम अशिक्षित ग़रीबों ने उसकी क्या कीमत चुकाई है, इस पर पिछले तीस वर्षों के दौरान दर्जनों रपटें और लेख प्रकाशित

हो चुके हैं। बिल गेट्स और मेलिंडा गेट्स फाउण्डेशन के काले कारनामों के बारे में आज भला कौन नहीं जानता?

दुनिया में सान्ता क्लाज़ का चेहरा लिये घूमने वाली कई विशाल अमेरिकी फ़ण्डिंग एजेंसियों और एनजीओ का वहाँ के मिलिट्री-इंडस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स से कितना गहरा रिश्ता है और बहुत "कल्याणकारी बुर्जुआ जनवादी" देश माने जाने वाले स्कैण्डेनेवियन देशों की फ़ण्डिंग एजेंसियाँ और एनजीओ किस तरह वहाँ की फ़ार्मा कम्पनियों और हथियार कम्पनियों के लिए काम करते हैं, इस पर भी काफी सामग्री और दस्तावेज़ उपलब्ध हैं।

ऐसी बातें केवल क्रान्तिकारी वामपंथी कहते हों ऐसी भी बात नहीं है। प्रो. जेम्स पेत्रास और प्रो. हेनरी वेल्तमेयर ने इन एनजीओ के वैचारिक-राजनीतिक कामों के बारे में काफी कुछ लिखा है। कोई भी जेम्स पेत्रास की वेबसाइट पर जाकर पढ़ सकता है। जेम्स पेत्रास ने तो विस्तार से यह भी बताया है कि वर्ग-संघर्ष की राजनीति को हाशिये पर डालने के लिए किस तरह अमेरिका के बुर्जुआ 'थिंक टैंक्स' ने 'आइडेंटिटी पॉलिटिक्स' की सैद्धांतिकी विकसित की और उसे तीसरी दुनिया की शोषित-उत्पीड़ित आबादी के बीच फैलाने के लिए मुख्य वाहक की भूमिका एनजीओ ने निभायी। एनजीओ किस तरह सन्त का मुखौटा पहने साम्राज्यवादियों और उनके जूनियर पार्टनर देशी पूँजीपतियों के ख़ूनी पंजों पर चढ़े सफ़ेद दस्ताने की भूमिका निभा रहे हैं, इस पर 'मंथली रिव्यू' पत्रिका की नियमित लेखिका जॉन रोयलोव्स भी अब तक कई गम्भीर और विस्तृत लेख लिख चुकी हैं। उनमें से कुछ उनके ब्लॉग 'आर्ट एंड एस्थेटिक्स' पर भी मौजूद हैं जिन्हें कोई पढ़ सकता है। और भी कई राजनीतिक लेखकों और अकादमीशियनों ने इनके काले कारनामों के बारे में लिखा है। भारत में 1980 के दशक के अन्त में ही साम्राज्यवादी एजेंटों के रूप में एनजीओ की भूमिका पर बहुत अधिक दस्तावेज़ी साक्ष्यों और तथ्यों के साथ पी.जे. जेम्स की पुस्तक आ चुकी थी। 'राहुल फ़ाउण्डेशन' ने भी **'एनजीओ : एक ख़तरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र'** लेख-संकलन दो दशक से भी अधिक पहले प्रकाशित किया था जिसके कई संस्करण हो चुके हैं। इसी प्रकाशन से ही एक पुस्तक 'वर्ल्ड सोशल फोरम' पर भी छपी है जो मुख्यतः एनजीओ के विश्वव्यापी जाल और उसकी राजनीति को ही एक्सपोज़ करती है। परिकल्पना प्रकाशन से प्रकाशित उपन्यास 'एक तयशुदा मौत' भी एनजीओ की राजनीति और उसके अन्तःपुरों में व्याप्त घटिया षड्यंत्रकारी राजनीति पर केन्द्रित है। इस उपन्यास के लेखक स्वयं एनजीओ में काम करते थे। एनजीओ में ही काम करने वाले योगेश दीवान की भी एक पुस्तक है, 'दास्ताने-स्वयंसेविता'।

यहीं पर एक भ्रम का निवारण करना भी ज़रूरी है। कुछ लोग सोचते हैं कि हर प्रकार के सुधार के काम अपने आप में एनजीओ टाइप काम हैं और क्रान्तिकारी इन कामों से परहेज़ करते हैं या इन्हें ग़लत मानते हैं। यह भ्रान्त धारणा अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन और क्रान्तियों के इतिहास की नाजानकारी से पैदा हुई है। चूँकि भारत के संशोधनवादी कम्युनिस्ट चुनाव लड़ने और अर्थवादी-ट्रेड-यूनियनवादी कामों के अतिरिक्त सामाजिक आन्दोलन के काम करते ही नहीं, इसलिए उनका आचरण देख-देखकर कुछ लोग कम्युनिस्टों के बारे में ही ग़लत धारणा बना लेते हैं। क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आम जनता के बीच राजनीतिक और आर्थिक कामों के साथ-साथ सामाजिक आन्दोलन, सामाजिक और आर्थिक सुधार के भी काम करते हैं और विविध रचनात्मक गतिविधियाँ करते हैं। सुधार और सुधारवाद में उसी तरह से बुनियादी फर्क है जैसे आर्थिक काम और अर्थवाद में, या ट्रेड-यूनियन कार्य और ट्रेड यूनियनवाद में। क्रान्तिकारी जब सुधार का काम करता है तो उसका मक़सद जनता से निकटता बनाना, उसकी पहलक़दमी जगाना, उसे रूढ़ियों से मुक्त करना, उसकी चेतना उन्नत करना या आपदा की स्थिति में उसे फ़ौरी मदद पहुँचाना होता है। क्रान्तिकारी के लिए सुधार-कार्य वर्ग-संघर्ष के लिए जन-लामबन्दी की प्रक्रिया का एक अंग है, जबकि सुधारवादी के लिए सुधार ही परम लक्ष्य है। एनजीओ सुधारवाद का लक्ष्य जनता की क्रान्तिकारी चेतना के विकास को रोकना, उसकी वर्ग-चेतना को कुन्द करना और उसे सुधारों के गुंजलक में ही फँसाचे रखना है।

'एनजीओ ब्राण्ड सुधारवाद' आम सुधारवाद से भी बहुत अधिक खतरनाक होता है, उसे देशी-विदेशी पूँजी ने अपनी तथा पूरी बुर्जुआ व्यवस्था की सेवा के लिए ही संगठित किया है—इस बात को समझना आज बहुत ज़रूरी है। एनजीओ सेक्टर के शीर्ष थिंक टैंक अक्सर पुराने रिटायर्ड क्रान्तिकारी, अनुभवी, घुटे हुए सोशल डेमोक्रेट और घाघ-दुनियादार बुर्जुआ लिबरल होते हैं जो देशी-विदेशी पूँजी की फ़ण्डिंग से जन-असन्तोष के दबाव को कम करने वाले सेफ़्टी वॉल्व का, एक क़िस्म के स्पीड-ब्रेकर का निर्माण करते हैं। साथ ही यह रोज़गार के लिए भटकते संवेदनशील युवाओं को "वेतनभोगी समाज-सुधारक" बनाकर इसी व्यवस्था का प्रहरी बना देने वाला एक ट्रैप भी है। यूँ तो एनजीओ नेटवर्क पूरे देश में फैला है, लेकिन झारखण्ड, छत्तीसगढ़ जैसे पिछड़े इलाकों के साथ ही उत्तराखण्ड के पहाड़ों के नाके-नाके तक ये फैल गये हैं और रैडिकल राजनीतिक चेतना को भ्रष्ट और दिग्भ्रमित करने का काम भयंकर रूप में कर रहे हैं। "कुलीन मध्यवर्गीय वामपंथ" की इनके साथ बढ़िया पटरी बैठती है और पुराने गाँधीवादी-सर्वोदयी टाइप सुधारवादी भी अब इस नये सुधारवाद के सुविधाजनक रास्ते के ही राही बन चुके हैं। हितों की इस अघोषित एकता पर कहीं से कोई सवाल नहीं उठता, क्योंकि ऐसे असुविधाजनक सवाल उठाने वालों का हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है। फिर बर्र के छत्ते में कोई क्यों हाथ डाले? मगर इस सवाल को आज नये सिरे से उठाना नये जुझारू जनान्दोलनों की ज़मीन तैयार करने के लिए ज़रूरी है।

हरियाणा में शिक्षा व्यवस्था पर सरकारी हमला

हरियाणा की खट्टर-दुष्यन्त के नेतृत्व वाली भाजपा-जजपा ठगबन्धन सरकार प्रदेश के 450 स्कूलों में विज्ञान की पढ़ाई बन्द करने जा रही है। यह क़दम बच्चों की कम संख्या के नाम पर उठाया जा रहा है। होना तो यह चाहिए था कि सरकारी मशीनरी द्वारा प्रचार करके और पढ़ाई का स्तर सुधारकर सरकारी स्कूलों में बच्चों की संख्या और फिर स्कूलों की संख्या को भी बढ़ाया जाता किन्तु यहाँ यह जनविरोधी सरकार विभिन्न संकायों की पढ़ाई और स्कूलों को ही बन्द करने पर तुली हुई है! हरियाणा में शिक्षा व्यवस्था लगातार सरकारी हमले की चपेट में है। मोटे तौर पर हरियाणा में शिक्षा व्यवस्था पर हमला कांग्रेस की हुड्डा सरकार के समय में ही होना शुरू हो गया था। खट्टर सरकार ने अपने पिछले कार्यकाल से ही शिक्षा व्यवस्था को बर्बाद करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है।

खट्टर सरकार अपने पिछले कार्यकाल के समय 2015 से 2019 के बीच के चार सालों के दौरान 208 सरकारी स्कूल बन्द कर चुकी है, जबकि इस अवधि में सिर्फ़ 23 नये सरकारी स्कूल खुले हैं किन्तु दूसरी ओर 974 प्राइवेट स्कूलों को मान्यता दी गयी। यही नहीं आने वाले समय में 1,026 प्राइमरी स्कूलों को बन्द करने की योजना थी। ये ऐसे स्कूल थे जिनमें छात्रों की संख्या 25 से कम थी। इसके अलावा खट्टर सरकार अध्यापकों की छँटनी करने का भी कोई मौका नहीं चूक रही है। हाल ही में कोर्ट के आदेश की आड़ लेकर 1983 पीटीआई शिक्षकों को बाहर का रास्ता दिखा दिया गया है। हालाँकि यदि सरकार पीटीआई अध्यापकों की सही ढंग से पैरवी करती तो इनका रोज़गार बच सकता था। दूसरी तरफ़ सरकार खाली पड़े पदों को भरने की बजाय उन पदों को ही ख़त्म करने की योजना बना रही है! प्रदेश में अब तक 25 विद्यार्थियों के अनुपात में 1 शिक्षक के हिसाब से प्राथमिक शिक्षकों की भर्ती की जाती थी यानी 25 छात्रों पर एक शिक्षक। अब सरकार इसे बढ़ाकर 30 अनुपात 1 करने जा रही है। नयी भर्ती तो गयी भाड़ में ऐसा करने से जेबीटी शिक्षकों के ही तकरीबन 4,000 पद और "अतिरिक्त" हो जायेंगे! प्राथमिक स्तर पर 125 बच्चों पर एक हेडमास्टर की जगह अब 151 बच्चों पर एक हेडमास्टर की नियुक्ति की जायेगी। इसी को कहते हैं हींग लगी न फिटकरी रंग चोखा!

एक आरटीआई के जवाब में हरियाणा सरकार ने पिछले महीने ही यह माना था कि प्रदेश में स्कूली शिक्षकों के 31,232 पद रिक्त हैं जबकि 2017 की हरियाणा अध्यापक संघ की 'डायरी' की रिपोर्ट कहती है कि हरियाणा में शिक्षकों के कुल 1,28,405 पदों में से 44,962 पद रिक्त हैं। हमारी जानकारी में तबसे कोई भर्ती भी नहीं निकली है तो ये पद घट कैसे गये? एक अन्य आरटीआई से यह पता चलता है कि ख़ुद राज्य सरकार के अनुसार ही हरियाणा में जेबीटी शिक्षकों के भी 6,000 के क़रीब पद रिक्त पड़े हैं जबकि 96,000 के करीब जेबीटी-टीजीटी-एचटेट पास युवा चप्पलें फटकारते घूम रहे हैं। अध्यापकों की छँटनी हो रही है तथा स्कूलों और संकायों को बन्द किया जा रहा है। यही कारण है कि सरकारी शिक्षा व्यवस्था का भट्टा बैठा हुआ है और बहुत सारे पढ़े-लिखे सक्षम युवा या तो दो-ढाई हज़ार में प्राइवेट स्कूलों में अपना ख़ून चुसवाने के लिए मजबूर हैं या फिर मायूसी और अवसाद की दलदल में समा रहे हैं।

बदतर शिक्षा व्यवस्था के चलते बच्चों का भविष्य ख़तरे में है तो बेरोज़गारी से उपजी हताशा युवाओं को नशे, अपराध और आत्महत्या की तरफ़ धकेल रही है। सेन्टर फ़ॉर मोनिटरिंग इण्डियन इकोनॉमी (CMIE) के जुलाई 2020 के ताज़ा आँकड़ों के अनुसार हरियाणा में बेरोज़गारी की दर 33.6% है। यह बेरोज़गारी दर देश में सभी राज्यों से ज़्यादा है। इसके बावजूद भी शिक्षा व्यवस्था के ख़ाली पदों तक को नहीं भरा जा रहा है। शिक्षा-रोज़गार का सवाल सरकार के एजेण्डे से पूरी तरह से गायब है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सरकार में बैठे धनपशुओं के पालतू चाकर यह अच्छी तरह से जानते हैं कि लोगों को बेवकूफ़ कैसे बनाया जाता है और असल मुद्दों से जनता का ध्यान कैसे भटकाया जाता है। उदाहरण के लिए प्राइवेट नौकरियों में 75 प्रतिशत आरक्षण देने का लुकमा इसीलिए फेंका गया है ताकि नौजवान आबादी क्षेत्रवाद में उलझकर एक-दूसरे का ही सिर फोड़ने में लग जाये और हरियाणा क्षेत्रवाद का नया अखाड़ा बन जाये।

अब सवाल यह है कि सरकार क्यों नहीं चाहती कि शिक्षकों की भर्ती हो व सरकारी स्कूली व्यवस्था बेहतर हो? इसका कारण यह है कि अगर ऐसा होता है तो सरकार में बैठे या सरकार के चहेते निजी शिक्षा माफ़िया धन्नासेठों के मुनाफ़े पर चोट पहुँचेगी। बड़ी पूँजी के लिए शिक्षा के क्षेत्र की बाधाएँ हटाने के मकसद से ही अध्यापकों की छँटनी हो रही है तथा स्कूलों और संकायों को बन्द किया जा रहा है। बड़ी पूँजी के लिए शिक्षा का क्षेत्र भी मुनाफ़ा कमाने का महत्वपूर्ण क्षेत्र है। सरकारी शिक्षा व्यवस्था शिक्षा में पूँजी निवेश को आतुर बाज़ारू ताक़तों के सामने फ़िलहाल न केवल एक चुनौती है बल्कि सरकारी ढाँचे के समाप्त होते ही ज़मीन, भवन से लेकर तमाम संसाधन आदिम पूँजी संचय

के तौर पर इनके द्वारा लगभग मुफ़्त के दामों में हथियाए जायेंगे।

नयी शिक्षा नीति 2020 आने के बाद तो तस्वीर और भी साफ़ हो चुकी है कि आने वाले समय में जो सरकारी स्कूली व्यवस्था पहले से ही चरमरा रही है उसे पूरी तरह से कैसे ढहाया जायेगा। शिक्षा को बाज़ारू माल बनाकर उन्हीं के लिए सीमित कर दिया जायेगा जो चाँदी का चम्मच मुँह में लेकर पैदा होते हैं। प्रदेश की बहुसंख्यक ग़रीब आबादी के बच्चे शिक्षा से महरूम कर दिये जायेंगे। और फिर बच्चों की कमी दिखाकर सरकारी शिक्षकों की नौकरियों पर कैंची चला दी जायेगी।

अगर शिक्षा और रोज़गार के अपने मूलभूत हक़ को पाना है तो प्रदेश के लाखों-लाख छात्रों-युवाओं और प्रबुद्ध नागरिकों को एकजुट होना होगा और प्रदेश की आम जनता को भी लामबन्द करना होगा। "सबको निःशुल्क और एक समान शिक्षा" और "हर किसी को पक्के रोज़गार के हक़ की गारण्टी" की माँगों पर हमें सरकारों को घेरना चाहिए। यदि हम आज भी नहीं चेते तो कल को बहुत देर हो चुकी होगी।

– अरविन्द

हरियाणा में पीटीआई शिक्षक बर्ख़ास्तगी के विरुद्ध आन्दोलन की राह पर

हरियाणा में 1983 पीटीआई शिक्षकों को कोरोना संकट के बीच में नौकरी से निकाल दिया गया। हरियाणा राज्य के अलग-अलग ज़िलों में 2010 बैच के शारीरिक शिक्षक अपने रोज़गार को बचाने की लड़ाई लड़ रहे हैं। पीटीआई अध्यापक कोरोना के ख़तरे के बीच उमसभरी गर्मी के थपेड़े खाते, बारिश में भीगते हुए भी अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाते रहे हैं। राज्य भर की कर्मचारी यूनियनें, जनसंगठन और सामाजिक संगठन भी पीटीआई अध्यापकों के न्यायपूर्ण संघर्ष के समर्थन में आगे आ रहे हैं।

सरकारी चमचे कहते हैं कि पीटीआई अध्यापक क़ाबिल नहीं हैं। जिन पीटीआई अध्यापकों ने बेहद कम संसाधनों के बावजूद ऐसे होनहार युवक-युवतियों को तैयार किया है जो स्टेट-नेशनल से लेकर इण्टरनेशनल तक खेलकर हज़ारों मेडल जीत चुके हैं, क्या उनकी क़ाबिलियत पर सवाल उठाया जाना जायज़ है? रोहतक धरनास्थल पर मेडलों और प्रमाणपत्रों के साथ कई छात्र-छात्राएँ अपने पीटीआई अध्यापकों के समर्थन में आ भी चुके हैं। जो सरकार कोर्ट में यह कहकर अपना पल्ला झाड़ती है कि हमें 1,983 पीटीआई की ज़रूरत नहीं है वह इनके कारण मेडल आने पर तो बड़ी वाहवाही लूटती है।

विगत 28 मई को सर्वोच्च न्यायालय ने एक आदेश जारी किया था जिसके अनुसार शारीरिक शिक्षकों की 2010 की भर्ती को रद्द कर दिया गया। सुप्रीम कोर्ट अपने फ़ैसले में यह बात साफ़ कहता है कि भर्ती की प्रक्रिया में दिक़्क़तें थी लेकिन पीटीआई शिक्षकों की कोई ग़लती नहीं है। सुप्रीम कोर्ट ने हरियाणा सरकार को आदेश दिया कि इन 1,983 शिक्षकों को अगले तीन दिन में हटा दिया जाये। सरकार ने बिना ढंग से कोर्ट में ज़िरह किये 1 जून को 1,983 शारीरिक शिक्षकों को नौकरी से हटा दिया।

इस मुद्दे पर पीटीआई अध्यापकों का कहना है कि सुप्रीम कोर्ट में हरियाणा सरकार ने सही ढंग से पीटीआई पक्ष की पैरवी ही नहीं की। सुप्रीम कोर्ट के निर्णय में यह कहीं नहीं कहा गया है कि शिक्षकों ने धाँधली के जरिये नौकरी प्राप्त की है। बल्कि आयोग के भर्ती के तरीक़े पर सवाल उठाते हुए भर्ती को रद्द किया है। कोर्ट ने सरकार से यह भी पूछा कि इन अध्यापकों को निकालकर आप मैन-पावर कहाँ से लाओगे? इस पर भी सरकार ने गोल-मोल जवाब देते हुए शिक्षको की ज़रूरत को ही नकार दिया। 10 साल अपनी सेवाएँ देने के बाद सरकार ने इन्हें बेरोज़गार कर दिया है और कोरोना जैसी महामारी के संकट में सड़क पर उतरने के लिए मजबूर कर दिया है। कई शिक्षक जिनकी मौत हो चुकी है उनके आश्रितों को पेन्शन मिल रही है, अब नौकरी जाने के बाद उनके परिवार भी भी सड़क पर आ जायेंगे।

मुख्यमंत्री बेतुके बयान दे रहे हैं। उनका कहना है कि अगर आप में योग्यता है तो नयी भर्ती की परीक्षा दीजिए और रोज़गार बचा लीजिए। कभी सरकार कहती है कि वह पीटीआई शिक्षकों को अतिथि अध्यापकों की तर्ज पर सहयोजित करने के लिए तैयार है। असल में कोर्ट के सामने सरकार के द्वारा कर्मचारियों के पक्ष की ढंग से पैरवी नहीं की गयी है। ख़ुद खट्टर सरकार के राज में तो सीधे तौर पर भर्तियों में अनियमिताएँ पायी गयी हैं। नायाब तहसीलदार का तो पेपर ही लीक हो गया था। पेपर लीक करवाने वाले जेल में हैं परन्तु खट्टर ने भर्ती को कैंसिल नहीं किया। इतनी धाँधली होने के बावजूद भी भर्तियों में पारदर्शिता का ढोंग किया जा रहा है। सुप्रीम कोर्ट ने पीटीआई भर्ती को जिन दो तर्कों पर रद्द किया है उनमें से एक यह है कि भर्ती की प्रक्रिया किस आधार पर होगी व किस चीज़ को कितनी वेटेज मिलेगी यह साफ़ नहीं था। खट्टर सरकार के कार्यकाल में भी बहुत सारी भर्तियों में यही कमी रही है लेकिन खट्टर सरकार अपनी इस कमी पर कोई बात नहीं कर रही है।

भर्ती प्रक्रियाओं को सरल व पारदर्शी बनाकर समयबद्धता के साथ निपटाया जाना चाहिए। लेकिन हमारे यहाँ एक भर्ती पूरी होने में ही वर्षों निकल जाते हैं। फ़िर अग़र कोई धाँधली होती है तो न्यायालय इतनी धीमी प्रक्रिया से फ़ैसले लेते हैं कि उसमें भी सालों लग जाते हैं। आयोग और अफ़सरशाही की ग़लती का शिकार कर्मचारियों को बना दिया जाता है।

रिपोर्ट लिखे जाने तक नौकरी बहाली के लिए पीटीआई शिक्षकों का आन्दोलन जारी है।

– आह्वान संवाददाता

समाज

स्त्री उत्पीड़न और भाजपा का रामराज्य

नीशू

उत्तर प्रदेश इस समय हिन्दुत्व की नयी प्रयोगशाला बना हुआ है। "रामराज्य" और "योगी के अपराधमुक्त प्रदेश" के कानफाड़ू शोर के बीच पिछले कुछ महीनों के भीतर प्रदेश भर में अलग-अलग जगहों से स्त्रियों के साथ होने वाली बर्बरता की घटनाएँ सामने आयी हैं। इनमें सबसे ताज़ा घटनाएँ हाथरस और बलरामपुर की हैं जिन्होंने पूरे देश को एक बार फिर झकझोर कर रख दिया है। उससे पहले उत्तर प्रदेश के लखीमपुर खीरी में एक दलित बच्ची के साथ बलात्कार और बर्बर हत्या के दो दिन बाद ही गोरखपुर में भी दलित बच्ची के साथ बर्बर बलात्कार और उत्पीड़न की घटना सामने आयी थी। फिर उसके दो दिन बाद ही भदोही में दसवीं की छात्रा के साथ बलात्कार करके उसका शरीर तेज़ाब से जलाकर नदी में फेंक दिया गया। इन हालिया घटनाओं के पहले प्रदेश में हापुड़, बुलन्दशहर, जालौन, लखनऊ, सीतापुर में भी बलात्कार व हत्या की ख़बरें आ चुकी हैं। कोविड-19 की महामारी के दौरान कानपुर के स्वरूपनगर स्थित राजकीय बालगृह (बालिका) में रह रहीं 171 लड़कियों में से सात गर्भवती और लॉकडाउन में 57 लड़कियाँ कोरोना संक्रमित और एक लड़की एचआईवी पॉजिटिव पायी गयी। इनमें से एक को छोड़कर बाक़ी की उम्र 18 साल से कम है। मामले सामने आने के बाद मैनेजमेण्ट और प्रशासन लीपापोती करने में लग गया और दोष उन नाबालिग़ बच्चियों पर ही मढ़ दिया।

सितम्बर के मध्य घटी हाथरस की घटना के बाद पूरा योगी प्रशासन आरोपियों को बचाने में जुटा रहा। आठ दिन प्रशासन को गैंगरेप का आरोप दर्ज करने में लग गये। बीते 29 सितम्बर को दिल्ली के सफ़दरजंग अस्पताल में पीड़िता की मौत के बाद योगी की फ़ासिस्ट सरकार के इशारों पर यूपी पुलिस ने परिजनों की रज़ामन्दी के बिना ही रात 2:30 बजे शव को जला भज दिया ताकि बलात्कारियों और हत्यारों के ख़िलाफ़ सबूत ही न बचें। हाथरस और बलरामपुर की ये जघन्य घटनाएँ कोई संयोग या कुछ पागल, उन्मादी हत्यारों की हरक़त मात्र नहीं है। जब भी कोई फ़ासीवादी, प्रतिक्रियावादी, कट्टरपंथी सरकार सत्ता में होती है, तो समाज के बर्बर, बीमार और आपराधिक तत्वों को ऐसी वारदातों को अंजाम देने का खुला हाथ मिल जाता है। विशेष तौर पर, जब सरकार और शासक फ़ासीवादी पार्टी में ही कुलदीप सेंगर और चिन्मययान्द जैसे बलात्कारी नेताओं, विधायकों और सांसदों की भरमार हो, तो फिर बीमार मानसिकता के आपराधिक बला को छूट मिलना स्वाभाविक है। साथ ही, जब ऐसे बर्बर कृत्य करने वालों को कोई सज़ा तक नहीं मिलती, तो ऐसे अमानवीय तत्वों को यह लगता है कि उनकी हरक़तें सज़ा से परे हैं। नतीजतन, उनका हौसला बढ़ता है और वे घृणित स्त्री-विरोधी अपराधों को अंजाम देते हैं। इसलिए हमें यह समझने की ज़रूरत है कि स्त्री-विरोधी अपराधों में भाजपा के राज में जो अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुई है, वह कोई इत्तेफ़ाक नहीं है। इतिहास गवाह है कि जब भी जनविरोधी, स्त्री-विरोधी, दलित-विरोधी व अल्पसंख्यक-विरोधी ताक़तें सत्ता में होती हैं, तो स्त्रियों के विरुद्ध बर्बर अपराधों में इज़ाफ़ा होता ही है।

आज सत्ता में वे ही लोग हैं जिन्होंने कुलदीप सिंह सेंगर से लेकर चिन्मयानन्द जैसे बलात्कारियों-अपराधियों को बचाने में दिन-रात एक कर दिये थे। कठुआ में एक 8 वर्षीय बच्ची के बलात्कारियों और हत्यारों के समर्थन में इन्होंने रैलियाँ तक आयोजित की थी। हमें भूलना नहीं चाहिए कि 2002 में गुजरात में सैकड़ों मुस्लिम स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार के बाद उनकी हत्या करने वाले लोग यही थे। इनके 'नारी सशक्तीकरण' और 'बेटी-बचाओ' के नारों के ढोल की पोल इस बात खुल जाती है कि आज भारत महिलाओं के लिए सबसे असुरक्षित देशों की सूची में सबसे ऊपर पहुँच चुका है। जिन लोगों की विचारधारा में बलात्कार को विरोधियों पर विजय पाने के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता हो, जिस पार्टी का इतिहास ही बलात्कारियों को संरक्षण देने का रहा हो क्या उनसे हम स्त्रियों के लिये न्याय, सम्मान, सुरक्षा और आज़ादी की उम्मीद कर सकते हैं? जिस पार्टी के 43 प्रतिशत सांसदों, विधायकों के ऊपर बालात्कार, हत्या के गम्भीर मामले दर्ज हों उनसे न्याय की उम्मीद करना हमारी बेवक़ूफ़ी ही होगी।

योगी के "अपराधमुक्त" प्रदेश और मोदी के "रामराज्य" की स्थिति नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) की इस साल जनवरी में आयी सालाना रिपोर्ट से जानी जा सकती है। महिलाओं के ख़िलाफ़ अपराध के मामले में उत्तर प्रदेश सबसे आगे है। देश में महिलाओं के ख़िलाफ़ 2018 में कुल 3,78,277 मामले हुए जिसमें अकेले यूपी में 59,445 मामले दर्ज किए गये। यानी देश में महिलाओं के साथ हुए कुल अपराध का लगभग 15.8%। इसके अलावा उत्तर प्रदेश में बलात्कार की 4,322

(पेज 68 पर जारी)

समाज

लगातार बढ़ रही दलित उत्पीड़न की घटनाओं के ख़िलाफ़ एकजुट हो

जातीय पहचान को लेकर चल रही अस्मितावादी राजनीति को त्यागकर जाति-व्यवस्था और इसके पोषक पूँजीवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष तेज़ करो

विगत 19 जुलाई को उत्तरप्रदेश के आगरा जनपद में ककरपुरा नामक गाँव में दलित जाति की महिला के शव को शमशान घाट पर चिता से ही उतरवा दिया गया क्योंकि यह शमशान घाट तथाकथित ऊँची जाति वालों का था। 18 जुलाई को कर्नाटक के विजयपुरा में एक दलित व्यक्ति और उसके परिजनों को तथाकथित ऊँची जाति के लोगों की भीड़ के द्वारा बेरहमी से पीटा गया और निर्वस्त्र करके घुमाया गया। पुलिस के ही मुताबिक़ कारण यह था कि इस व्यक्ति ने कथित तौर पर "ऊँची जाति" के एक शख़्स की बाइक को छू दिया था! 14 जुलाई को मध्यप्रदेश के गुना में पुलिस के द्वारा ही कब्ज़ा छुड़ाने के नाम पर ग़रीब-दलित किसान दम्पत्ति के साथ बहुत ही अमानवीय बर्ताव किया गया। किसान ने ज़मीन उसी की जाति के किसी दलाल को पैसे देकर पट्टे पर ली थी। उसने मेहनत करके उसमें जो फ़सल उगायी थी उस सबको भी मटियामेट कर दिया गया। पुलिस की बर्बरता से आहत दलित किसान राजकुमार बीवी समेत ज़हर पी लिया। लॉकडाउन के दौरान की ही घटना है कि ओडिशा के सुन्दरगढ़ में एक 13 वर्षीय ग़रीब-आदिवासी बच्ची का थाना प्रभारी सहित कई पुलिस वालों ने तीन महीनों तक रेप किया। इस घटना पर डीजीपी ने बच्ची से सार्वजनिक माफ़ी माँगी लेकिन क्या इससे उसके शारीरिक और मानसिक घाव भर पायेंगे? एक जून को उत्तरप्रदेश के अयोध्या में एक अनुसूचित जाति के व्यक्ति को धारदार हथियारों के द्वारा काट डाला गया। 3 मई को डायन होने का आरोप लगाकर बिहार के मुजफ़्फ़रपुर में तीन महिलाओं समेत चार दलित लोगों को बुरी तरह से पीटा गया और मैला पीने को मजबूर किया गया। इसके अलावा पूरे कोरोनाकाल में भी क्वैरण्टाइन सेण्टरों में दोयम दर्जे के व्यवहार से लेकर सफ़ाई कर्मियों के उत्पीड़न की तमाम घटनाएँ हमारे सामने आयीं।

देश में दलित उत्पीड़न की घटनाएँ और अस्मितावादी मानसिकता दोनों ही इस समय उफ़ान पर हैं। आये दिन कभी घोड़ी पर चढ़ने के कारण तो कभी मूछें रखने के कारण; कभी अन्तर्जातीय विवाह के कारण तो कभी प्रेम प्रसंग के कारण; कभी बर्तन छू लेने के कारण तो कभी मन्दिर की सीढ़ियों पर चढ़ने के कारण हत्या, मारपीट, बहिष्कार और बेइज़्ज़त करने के रूप में दलित उत्पीड़न की घटनाएँ सामने आती ही रहती हैं। अधिकतर मामलों में आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न ग़रीब दलित आबादी को ही झेलना पड़ता है।

उपरोक्त विवरण से साफ़ ज़ाहिर होता है कि घनघोर अमानवीय जाति-व्यवस्था आज भी क़ायम है और रोज़ दलित उत्पीड़न के नये-नये मामले सामने आ रहे हैं। तमाम सरकारें आयी और गयी किन्तु जातिवादी मानसिकता में कोई कमी नहीं आयी बल्कि इसे नया खाद-पानी ही मिलता रहा है। जाति-व्यवस्था की पैरोकार भाजपा के शासन में तो जातिवादी मानसिकता और जातिवादी उत्पीड़न में और भी बढ़ोत्तरी हुई है।

मार्च 2018 में आयी नेशनल क्राइम रेकॉर्ड ब्यूरो (NCRB/एनसीआरबी) की रिपोर्ट के अनुसार 2007 से 2017 के बीच के दस सालों में दलित विरोधी अपराधों में 66 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है, 2006 में जहाँ 27,070 दलित विरोधी मामले दर्ज हुए थे वहीं 2011 में 33,719 और 2016 में इनकी संख्या बढ़कर 40,801 ही गयी। आप देख सकते हैं समाज में दलित उत्पीड़न के मामलों में किस तरह से दिन दूनी रात चौगुनी गति से वृद्धि हुई है।

देशभर में दलित विरोधी जातिगत नफ़रत व हिंसा का लम्बा इतिहास रहा है। 1989 में एससी/एसटी एक्ट के लागू होने के बावजूद भी देश में औसतन हर 15 मिनट में एक दलित उत्पीड़न का शिकार होता है; हर घण्टे दलितों के ख़िलाफ़ पाँच से ज़्यादा हमले दर्ज होते हैं; हर दिन दो दलितों की हत्या कर दी जाती है; अगर दलित महिलाओं की बात की जाये तो उनकी स्थिति तो और भी भयानक है। प्रतिदिन औसतन 6 स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार होती हैं।

मामलों के प्रशासनिक और न्यायिक संज्ञान में आने के बाद भी वास्तविक न्याय मिलने की गारण्टी नहीं होती!

पहली बात तो बहुत सारे दलित-विरोधी उत्पीड़न के मामले सामाजिक डर और आर्थिक असुरक्षा के चलते पुलिस-प्रशासन के संज्ञान में ही नहीं आ पाते। किन्तु पुलिस और कोर्ट की फ़ाइलों में दर्ज होने के बाद भी न जाने कितने मामले अपनी तार्किक परिणति तक नहीं पहुँच पाते। देश भर में हुए भयंकर दलित-विरोधी काण्ड और उनकी न्यायिक प्रक्रिया हमारी न्याय-व्यवस्था पर भी बहुत से सवाल खड़े करती है। आप ख़ुद ही देखिए कि देशभर में

दलितों के ख़िलाफ़ संगठित हिंसा करने वालों का क्या बिगड़ा।

44 दलितों की हत्या, किलवनमनी, तमिलनाडु, 25 दिसम्बर 1968, न्यायिक परिणाम – सभी आरोपियों को बरी कर दिया गया।

13 दलितों की हत्या, चुन्दुर, आन्ध्रप्रदेश, 6 अगस्त 1991, न्यायिक परिणाम – 2014 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया।

10 दलितों की हत्या, नागरी, बिहार, 11 नवम्बर 1998, न्यायिक परिणाम – मार्च 2013 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया।

22 दलितों की हत्या, शंकर बीघा गाँव, बिहार, 25 जनवरी, 1999, न्यायिक परिणाम – जनवरी 2015 में सभी आरोपी बरी।

21 दलितों की हत्या, बथानी टोला, बिहार, 11 जुलाई 1996, न्यायिक परिणाम – अप्रैल 2012 में सभी आरोपियों को छोड़ दिया गया।

32 दलितों की हत्या मिंयापुर, बिहार, 2000, न्यायिक परिणाम –2013 में सभी को छोड़ दिया गया।

58 दलितों की हत्या, लक्ष्मणपुर बाथे, 1 दिसम्बर 1997, न्यायिक परिणाम –2013 में सभी को छोड़ दिया गया।

महाराष्ट्र का प्रसिद्ध नितिन आगे केस, जिसमें एक दलित नौजवान को गाँव के सामने मार दिया गया था, 28 अप्रैल 2014, न्यायिक परिणाम – 23 नवम्बर 2017 के दिन सबको छोड़ दिया गया।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि दलितों के विरुद्ध हुए बहुत से बर्बर से बर्बर हत्याकाण्डों में भी सज़ाएँ नाममात्र ही हुईं या बिल्कुल ही नहीं हुईं। ये चन्द आँकड़े साफ़ बता रहे हैं कि 73 साल की आज़ादी के बाद भी ग़रीब दलित आबादी हर रूप से कितनी अरक्षित है।

समता, न्याय, भाईचारे और सौहार्द के बेशक कितने ही ढोल बजा लिये जायें, आज बड़ी संख्या में देश के ही नागरिक न्याय, बराबरी और अवसर की समानता जैसे अपने संवैधानिक अधिकारों तक से महरूम हैं। निश्चय ही हमें तमाम तरह के जातीय भेदभाव, उत्पीड़न और शोषण का तत्काल प्रतिकार करना चाहिए। जातीय उत्पीड़न और जातिवादी मानसिकता के ख़िलाफ़ सशक्त जनवादी और नागरिक अधिकार आन्दोलन खड़ा करना चाहिए। एक ऐसा आन्दोलन जिसके दरवाज़े हर जाति के प्रगतिशील व्यक्ति के लिए खुले हों। इसके साथ ही हमें जाति-व्यवस्था के असल कारणों की भी पड़ताल करके इनके विरुद्ध आन्दोलन की सांगोपांग रूपरेखा भी तैयार करनी चाहिए। कम से कम हमारे सामने यह तो स्पष्ट होना ही चाहिए कि जातिवाद को कौन-सी चीज़ कमज़ोर करेगी और कौन-सी चीज़ मज़बूत करेगी।

जातिवाद से मुक्ति का रास्ता अस्मितावाद और प्रतीकवाद से नहीं बल्कि वर्ग-आधारित जाति-विरोधी आन्दोलन और इन्क़लाब से होकर जाता है

जातीय उत्पीड़न की भयावह स्थिति के बावजूद जातिवाद-विरोधी प्रगतिशील आन्दोलन खड़ा होने की बजाय चारों तरफ़ अपनी-अपनी जातीय पहचान को लेकर अस्मितावादी राजनीति ज़ोरों पर है। अस्मितावाद की नैया में सवार होकर तमाम जातीय ठेकेदार पलक झपकते ही भाजपा-कांग्रेस से लेकर तमाम क्षेत्रीय चुनावबाज़ पार्टियों की गोद में जा बैठते हैं और अपनी जाति के ही ग़रीबों के हितों के साथ सौदा करने लगते हैं। जाति-व्यवस्था विरोधी और वर्ग-आधारित आन्दोलन खड़ा करने का कार्यभार आज देश की मेहनतकश जनता और उसके युवा बेटे-बेटियों के कन्धों पर ही टिका है। अस्मितावादी रंगे सियारों और चुनावबाज़ धन्धेबाज़ों से हमें कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए।

आज अस्मितावाद (यानी ग़रीबों को उनकी जातीय पहचान और अस्मिता के आधार पर संगठित और गोलबन्द करना) तथा प्रतीकवाद (यानी मूर्ति तोड़े जाने और किसी प्रतीक के बारे में किसी के द्वारा कुछ कह देने जैसे मुद्दों को ही मुखरता से उठाना और दलित-ग़रीब आबादी के असल मुद्दों पर चुप रहना) से ग़रीबों और दलितों का कोई भला नहीं होने वाला। इस तरह की राजनीति का फ़ायदा हरेक जाति में बैठे शासक वर्ग के लोग ही उठाते हैं। रामदास आठवले, उदित राज, जीतन राम मांझी, रामविलास पासवान इत्यादि इसके मौजूँ उदाहरण हैं। यदि देशव्यापी आँकड़ों पर नज़र दौड़ाएँ तो दलितों का करीब 95 प्रतिशत हिस्सा खेत मज़दूर, निर्माण मज़दूर, सफ़ाई कर्मी और औद्योगिक मज़दूर के तौर पर खट रहा है। अस्मितावादी और प्रतीकवादी राजनीति करने वाले लोग विरले ही इस मेहनतकश दलित आबादी के मुद्दों को उठाते हैं। दूसरा हर अस्मितावादी राजनीति अपने बरक्स अन्य जातियों की अस्मितावादी राजनीति को भी बढ़ावा देती है। तमाम जातियों में बैठे पूँजीपति वर्ग के विभिन्न हिस्से शासन-सत्ता में में भागीदारी करने के मक़सद से जातीय पहचान को आधार बनाकर नूराकुश्ती करते रहते हैं और तमाम जातियों की मेहनतकश जनता के बीच सिरफुटौव्वल करवाते रहते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार भी यही चाहते हैं कि जनता अपनी बर्बादी के असल कारणों को समझकर व्यवस्था के ख़िलाफ़ एकजुट होने की बजाय आपस में ही लड़ती रहे।

क्रान्ति के बिना दलित मुक्ति नहीं हो सकती व जाति-व्यवस्था विरोधी व्यापक आन्दोलनों के बिना क्रान्ति का विचार भी एक ख़याली पुलाव भर है

जातिवाद या ब्राह्मणवाद आज संस्कारित तौर पर पूँजीवादी व्यवस्था की ही सेवा कर रहा है। जातिवाद, साम्प्रदायिकता और तमाम तरह की अस्मितावादी राजनीति आज पूँजीवाद के लिए 'संजीवनी बूटी' के समान है। व्यवस्था के ठेकेदार पूँजीवाद द्वारा

परिष्कृत करके अपना ली गयी जाति-व्यवस्था का अपने हितों के लिए ख़ूब इस्तेमाल कर रहे हैं। यही कारण है कि आज़ादी के 73 साल बाद भी जातिवादी दमन-उत्पीड़न घटने की बजाय नये-नये रूपों में बढ़ ही रहा है।

दलित-विरोधी उत्पीड़न के ख़िलाफ़ मज़बूती से तभी लड़ा जा सकता है जब हर जाति की व्यापक मेहनतकश जनता को जाति-व्यवस्था के ख़िलाफ़ लामबन्द किया जायेगा। शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा, आवास, महँगाई जैसे मुद्दों पर होने वाले संघर्षों में हर जाति की मेहनतकश जनता की भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए। साथ ही लोगों के बीच वैचारिक-शैक्षणिक मुहिम चलायी जानी भी बेहद ज़रूरी है जिसके माध्यम से लोगों के बीच जाति-व्यवस्था के इतिहास और वर्तमान से जुड़े विभिन्न पहलुओं और इसकी समाप्ति के आवश्यक कार्यभारों व चुनौतियों को स्पष्टता के साथ रखा जा सके। तथाकथित उच्च जाति वालों के सामने भावनात्मक अपीलों से कुछ नहीं होगा बल्कि उनकी भी मेहनतकश जनता को अपने आन्दोलन के साथ जोड़कर सक्रिय करना होगा। जाति-व्यवस्था-विरोधी आन्दोलनों को मेहनतकश वर्ग की एकजुटता के दम पर ही असल मुक़ाम तक पहुँचाया जा सकता है।

– अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच की ओर से

राज्यसत्ता के निरंकुश होते जाने के साथ बढ़ती पुलिस बर्बरता

पिछले दिनों तमिलनाडु के तूतीकोरिन में सितांकुलम थाना क्षेत्र में हिरासत के दौरान पुलिसिया दमन की एक वीभत्सतम घटना सामने आयी थी। प्राप्त जानकारियों के आधार पर यह पूरा घटनाक्रम कुछ इस प्रकार से था। तमिलनाडु के तूतीकोरिन शहर में पी जयराज (58 वर्ष) और उनके बेटे बेन्निक्स (38 वर्ष) मोबाइल फ़ोन की दुकान चलाते थे। 19 जून यानी विगत शुक्रवार को इन्हें अपनी दुकान लॉकडाउन के दौरान की समयसीमा से थोड़े अधिक समय तक खोले रखने की एवज़ में स्थानीय सितांकुलम थाने की पुलिस द्वारा गिरफ़्तार किया गया। हिरासत में इन्हें बुरी तरह से सताया गया जिसके कारण चार दिन बाद एक अस्पताल में पिता-पुत्र दोनों की मौत हो गयी। मृतकों के परिजनों ने पुलिस पर अमानवीय उत्पीड़न का आरोप लगाया है। रिश्तेदारों का कहना है कि उनके सीने से बाल उखाड़े गये हैं, नाख़ून उखाड़े गये हैं तथा उनके मलाशय व अन्य यौन अंगों पर पुलिसिया बर्बरता की निशानियाँ साफ़ तौर पर दिखायी देती हैं। पुलिस ने दोनों मृतकों पर पुलिस को आपराधिक धमकी देने और गाली-गलौज़ करने जैसे आरोप मढ़े हैं। यह घटना पुलिसिया तंत्र की निरंकुशता और बर्बरता की कहानी साफ़ तौर पर बयाँ करती है।

पैदा हुई पुलीस तो इबलीस ने कहा
लो आज हम भी साहिबे-औलाद हो गये

(इबलीस - शैतान)

भारत में हर वर्ष पुलिस व न्यायिक हिरासत में सैकड़ों की संख्या में लोगों की मौतें हो जाती हैं। जुलाई 2019 के दौरान भाजपा नीत एनडीए की सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये आँकड़ों के अनुसार ही पिछले तीन वर्षों में 4,476 लोगों की मौतें हिरासत के दौरान हुई हैं। इनमें से 427 लोगों की मृत्यु पुलिस हिरासत के दौरान तथा 4,049 लोगों की मौत न्यायिक हिरासत के दौरान हुई है। साल 2016-17 के दौरान पुलिस हिरासत में मौत का आँकड़ा 145 था जबकि न्यायिक हिरासत में 1,616 लोग मारे गये यानी कुल 1,761 लोगों की हिरासत में मौत। इसी प्रकार से साल 2017-18 के दौरान पुलिस हिरासत में 146 तो न्यायिक हिरासत में 1,636 लोगों की मृत्यु हुई यानी कुल 1,782 लोगों की हिरासत में मौत। वर्ष 2018-19 के दौरान पुलिस हिरासत में मरने वालों की संख्या थी 136 और न्यायिक हिरासत में मृत्यु हुई 1,797 लोगों की यानी कुल 1,933 लोगों की हिरासत में मौत। हिरासत में मौतों के साल 2018 के अन्तिम आँकड़ों के अनुसार भारत में हर रोज़ 5 से भी ज़्यादा लोग हिरासत में मर जाते हैं। आप देख सकते हैं कि कितने बड़े पैमाने पर हिरासत के दौरान लोगों को तड़पा-तड़पाकर मार दिया जाता है। ये कुदरती मौतें नहीं हैं बल्कि पुलिसतंत्र नामक संगठित गुण्डा गिरोह द्वारा सुनियोजित तरीके से अंजाम दी जा रही हत्याएँ हैं।

भारतीय पुलिस व्यवस्था का गठन 1861 में औपनिवेशिक ग़ुलामी के दौर में हुआ था।उस समय पुलिस का मुख्य काम ही जनता को दबाने-कुचलने का था। आज़ादी के बाद भी पुलिसिया उत्पीड़न के विभिन्न रूप जारी हैं क्योंकि पुलिसिया ढाँचा कमोबेश अब भी उसी पुराने ढंग-ढर्रे पर संगठित है। मौजूदा हालात भी पुलिस के सम्बन्ध में उक्त शायर की धारणा को बख़ूबी पुष्ट करते हैं। असल में थानों में पुलिस का एकछत्र राज चलता है। हवालात और न्यायिक हिरासत में यदि कोई क़ैदी अपने क़ानूनी अधिकार का भी ज़रा सा हवाला दे-दे तो उसपर क़ानून और न्याय के ये तथाकथित रक्षक भूखे भेड़िये की तरह टूट पड़ते हैं। और यदि हिरासत की अवधि में रात भी हो जाये तो नशे के कारण इनकी वहशियाना फ़ितरत को चार चाँद लग जाते हैं। ज़्यादातर औपनिवेशिक ढंग-ढर्रे पर संगठित पुलिस विभाग के अधिकतर कर्मचारियों की काम करते हुए ट्रेनिंग इस क़दर होती है कि उनके अन्दर से मानवीय संवेदनाएँ जाती रहती हैं। मौजूदा लूट पर आधारित सत्ता-व्यवस्था को भी ऐसे ही पुलिस तंत्र की ज़रूरत होती है जो महज़ हुक्म बजा सके, जनता को कुचल सके और इस शोषणकारी व्यवस्था की तरह

भ्रष्टाचार की गटरगंगा में लहालोट होकर उसी के रंग में रंगा हुआ हो। इसी कारण से पुलिसिया तंत्र के जनवादीकरण की प्रक्रिया को अंजाम नहीं दिया जाता कि कहीं रोबोटों की बजाय पुलिस कर्मी सोचने-समझने वाले संवेदनशील इन्सानों में न बदल जायें और व्यवस्था पर ही सवाल उठाना न शुरू कर दें।

रोज़-रोज़ पुलिस दमन के वाक़यों को देखकर हम महसूस कर सकते हैं कि पुलिसिया तंत्र में आमूलचूल बदलाव की किस क़दर आवश्यकता है। पुलिस व्यवस्था में सुधार और उसका जनवादीकरण बेहद ज़रूरी है, नहीं तो न जाने कितने पी. जयराम और जे. बेन्निक्स काल-कलवित होते रहेंगे। पुलिस सुधार के लिए छात्रों-युवाओं, सचेत नागरिकों और आम जनता को बढ़चढ़कर भागीदारी करनी चाहिए।

मद्रास हाईकोर्ट की मदुरई पीठ ने तूतीकोरिन मामले का स्वतः संज्ञान लेते हुए घटना से सम्बन्धित स्थानीय पुलिसकर्मियों में से दो उपनिरीक्षकों समेत चार को निलम्बित कर दिया है। तमिलनाडु की घटना पर नागरिक समाज की ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया के बाद हालाँकि पुलिस के भेष में अपराधियों पर कार्रवाई हुई है लेकिन यह कार्रवाई अपर्याप्त है।

पंजाब में ज़हरीली शराब के कारण मौत का ताण्डव!

क़रीब 100 लोगों की मौत! कौन है इसका ज़िम्मेदार?

हाल ही में पंजाब में ज़हरीली शराब पीने से 100 से ज़्यादा लोगों की मौत हो गयी। कई ज़िले इस दुर्घटना का शिकार हुए। अकेले तरन तारन ज़िले में ही 40 से ज़्यादा लोगों की मृत्यु हुई है। अमृतसर में बारह और गुरदासपुर के बटाला में नौ लोगों की मौत की पुष्टि हुई थी। हालाँकि इस पूरे प्रकरण में सात आबकारी कर्मचारियों और छह पुलिस कर्मचारियों को सस्पेण्ड किया गया है। नक़ली और अवैध शराब बनाने और बेचने वाले कई लोगों को भी पुलिस ने गिरफ़्तार किया है। लेकिन असली गुनाहगार और इस खेल के असल सरगनाओं का कुछ नहीं बिगड़ेगा, इस बात को सभी जानते हैं।

शिक्षा, रोज़गार और स्वास्थ्य सुविधाएँ देने की बजाय यह आदमख़ोर व्यवस्था जनता और ख़ासकर नौजवान आबादी को नशाख़ोरी और अपराध की दलदल में धकेल रही है। शराब बिक्री से भी सरकारों को राजस्व का बड़ा हिस्सा प्राप्त होता है। राजस्व उगाहने के जतन में इसकी क़ीमतों में भी बेशुमार बढ़ोत्तरी की जाती है। इसके कारण लोग देशी शराब और ख़ुद निकाली गयी शराब जैसे सस्ते विकल्पों की तरफ़ भागते हैं और मौत का शिकार हो जाते हैं। वैध-अवैध नशा माफ़िया और नेताशाही-नौकरशाही का गठजोड़ किस तरह से लोगों के चूल्हों की आग ठण्डी कर रहा है यह हमारे सामने है।

पंजाब स्वास्थ्य विभाग द्वारा साल 2019 में जारी रिपोर्ट कहती है कि औसतन 215 नये लोग हर रोज़ नशाख़ोरी की गर्त में समा रहे हैं। जनवरी से दिसम्बर 2019 के दौरान हेरोइन जैसे जानलेवा नशे का सेवन करने वालों की संख्या में ही 35 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। आँकड़ों के अनुसार, जनवरी 2019 में जहाँ हेरोइन के 5,439 नये मामले सामने आये थे, दिसम्बर 2019 में यह संख्या बढ़कर 8,230 तक जा पहुँची।

अकाली दल-भाजपा की सरकार के दौरान नशे का कारोबार बेरोकटोक चलता रहा क्योंकि इसे संरक्षण देने वाले लोग सरकार में ही बैठे हुए थे। लेकिन अमरिन्दर सरकार आने के बाद भी नशे के सौदागरों पर कोई कार्रवाई नहीं हुई है। कहने को एसआईटी का गठन कर दिया गया और उसमें अफ़सरों की आवाजाही लगी रहती है लेकिन कोई ठोस कार्रवाई नहीं होती।

पंजाब में लॉकडाउन के दौरान 12 मई तक ही नशाख़ोरी की आदत छुड़ाने के लिए नशे के शिकार 86,000 से ज्यादा लोगों ने रजिस्ट्रेशन कराया था। आप देख सकते हैं कि लोग नशे की दलदल से बाहर निकलना चाहते हैं। लेकिन नशा माफ़िया इस आबादी को बुरी तरह गिरफ़्त में जकड़े हुए होता है। दूसरी ओर शोषणकारी व्यवस्था की बेरोज़गारी, अवसाद, अलगाव, पार्थक्य जैसी नेमतें भी जनता को रोज-रोज अपराध, नशाख़ोरी और आत्महत्या की दलदल में धकेलती रहती हैं। पंजाब में ही सालाना अवैध नशे का कारोबार तक़रीबन 8,000 करोड़ से भी ज़्यादा का है। तमाम पार्टियों के नेता तक नशा माफ़िया के साथ साँठगाँठ रखते हैं और कुछ तो चमके ही इस कारोबार की बदौलत हैं।

आज युवा पीढ़ी को एकजुट होकर शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा और आवास जैसी सुविधाओं को हासिल करने के लिए और अपराध, नशाख़ोरी, पूँजीवादी लूट-शोषण के ख़िलाफ़ मुहिम छेड़ देनी चाहिए। पंजाब की नौजवानी के सामने भी नशाख़ोरी आज एक बहुत बड़ी चुनौती है। सही मुद्दों पर संघर्ष खड़े करके व इनमें भागीदारी करके ही हम ख़ुद को और दूसरों को नशाख़ोरी, अपराध, अवसाद और आत्महत्याओं के भँवरजाल से निकाल सकते हैं।

– आह्वान संवाददाता

गतिविधियाँ

यूजीसी द्वारा परीक्षाएँ कराये जाने के विरोध मे देशभर में प्रदर्शन

सभी परीक्षाओं को रद्द करो!
छात्रों को मौत के मुँह में ढकेलना बन्द करो!

कोरोना महामारी के इस भयंकर दौर में जब हर रोज़ भारत में 50 हज़ार से अधिक मामले सामने आ रही हैं, संक्रमित लोगों की संख्या के मामले में भारत दुनिया में तीसरे स्थान पर पहुँच गया है, ऐसी स्थिति में दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्ता यह माँग कर रहे थे कि महामारी के मद्देनज़र सभी परीक्षाओं को निरस्त किया जाये और इसके मद्देनज़र यूजीसी के कार्यालय पर संयुक्त प्रदर्शन भी आयोजित किए गये थे। लेकिन छात्रों-युवाओं के विरोध को नज़रअन्दाज़ करते हुए लेकिन यूजीसी ने विश्वविद्यालयों में परीक्षा कराने का फ़ैसला लिया। यूजीसी के इस निर्णय ख़िलाफ़ दिशा छात्र संगठन द्वारा इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक, गोरखपुर विश्वविद्यालय, आदि विश्वविद्यालयों में विरोध प्रदर्शन किया गया। ग़ौरतलब है कि यूजीसी के फ़ैसले के मुताबिक़ परीक्षाएँ चाहे ऑनलाइन आयोजित की जायें या ऑफ़लाइन, दोनों ही तरीक़े अव्यावहारिक व छात्र-विरोधी साबित होंगे। एक ओर तो ऑनलाइन परीक्षा देने के लिए कम्प्यूटर व इण्टरनेट कनेक्शन सभी छात्रों के पास उपलब्ध नहीं है, तो दूसरी ओर बढ़ते संक्रमण को देखते हुए जल्दबाज़ी मे ऑफ़लाइन परीक्षा आयोजित कराना ख़तरनाक हो सकता है। यूजीसी का कहना है कि यह छात्रों की योग्यता और भविष्य का सवाल है। लेकिन यूजीसी को विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसरों की कमी, लाइब्रेरी, लैब आदि सुविधाओं के अभाव में योग्यता का तर्क नहीं दिखाई देता है। ज़ाहिर है कि कोरोना महामारी के इस भयंकर दौर में योग्यता का हवाला देकर परीक्षाएँ आयोजित कराकर छात्रों को मौत के मुँह में ढकेला जा रहा है ताकि कोरोना संकट की भयंकरता पर पर्दा डाला जा सके। फ़ासीवादी भाजपा सरकार और संघ परिवार का पिछलग्गू संगठन एबीवीपी (अखिल भारतीय विद्यार्थी संगठन) भी इस छात्र-विरोधी फ़ैसले का स्वागत कर रहा है। दिशा छात्र संगठन की यह माँग है कि सभी परीक्षाओं को तत्काल रद्द कराया जाये और वैकल्पिक मार्किंग प्रणाली से छात्रों को प्रमोट किया जाये।

छात्रों के व्यापक विरोध के बावजूद परीक्षाएँ कराने के दुखद परिणाम आने भी शुरू हो गये हैं। परीक्षा देकर मुज़फ़्फ़रपुर की एक छात्रा की मृत्यु हो चुकी है।

नयी शिक्षा नीति के विरोध में प्रदर्शन

छात्रों-युवाओं और बुद्धिजीवियों के तमाम विरोध को दरकिनार करते हुए दिनांक 29 जुलाई के दिन 'नयी शिक्षा नीति 2020' को मोदी सरकार के कैबिनेट ने मंज़ूरी दे दी। यह शिक्षा नीति शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी निवेश को घटायेगी और बड़ी पूँजी के लिए शिक्षा के दरवाज़े खोलेगी। व्यापक मेहनतकश जनता के बेटे-बेटियों के लिए शिक्षा प्राप्त करने के रास्ते और भी सँकरे हो जायेंगे। मोदी सरकार द्वारा जन-विरोधी नयी शिक्षा नीति – 2020 लागू किये जाने का दिशा छात्र संगठन की इलाहाबाद तथा गोरखपुर की इकाईयों के कार्यकर्ताओं ने विरोध किया। इस जन-विरोधी शिक्षा नीति के मसौदे को पहले फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा निहायत ही अलोकतांत्रिक तरीके से लोगों के सामने आने से रोका गया। फिर अचानक बहुत कम समय देकर इसपर सुझाव माँगने खानापूर्ति की गयी। इसके बावजूद देश भर से बहुत से सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने सरकार को पत्र लिखे और जगह-जगह इसके ख़िलाफ़ कार्यक्रम आयोजित किये, लेकिन कोरोना महामारी के इस दौर में सरकार ने आपदा को अवसर में बदलते हुए इस जन-विरोधी शिक्षा नीति को लागू कर दिया। दिशा छात्र संगठन शिक्षा को आम जनता से दूर कर मुट्ठी भर देशी-विदेशी लुटेरों की तिजोरी में क़ैद करने व शिक्षा के माध्यम फ़ासीवादी संघ-भाजपा के एजेण्डों को लागू करने के लिए बनायी गयी इस नीति को वापस लेने की माँग करता है।

आलोचना अवमानना नहीं है।

उच्चतम न्यायालय द्वारा वरिष्ठ अधिवक्ता प्रशान्त भूषण को न्यायालय की अवमानना का दोषी ठहराने के ख़िलाफ़ देश भर में जगह-जगह विरोध प्रदर्शन आयोजित किए गये। नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन और स्त्री मुक्ति लीग के कार्यकर्ताओं ने भी दिल्ली, इलाहाबाद, देहरादून समेत जगह-जगह इन कार्यक्रमों में भागीदारी की। इलाहाबाद के बालसन चौराहे पर आयोजित प्रदर्शन में दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने क्रान्तिकारी गीत 'वो सब कुछ करने को तैयार', 'हम जंगे-अवामी से कोहराम मचा देंगे' और 'जारी है हड़ताल' की प्रस्तुति की तथा बातचीत रखी। देहरादून में सामाजिक संगठनों, कार्यकर्ताओं की ओर से राष्ट्रपति को पत्र लिखकर इसके ख़िलाफ़ ज्ञापन सौंपा गया।

स्त्री-बच्चे सब बर्बाद, इसकी जड़ में पूँजीवाद

कुलदीप सिंह सेंगर और चिन्मयानन्द जैसे स्त्री-उत्पीड़न के अपराधियों को बचाने में जी-जान लगा देने वाली सरकार के राज

में महिलाओं और बच्चियों की सुरक्षा की उम्मीद करना बेमानी है। उत्तर प्रदेश में लगभग हर दिन स्त्री-उत्पीड़न की बर्बर घटनाएँ सामने आ रही हैं। अगस्त की शुरुआत में ही लखीमपुर खीरी और गोरखपुर में ऐसी ही बर्बर घटनाएँ सामने आयीं। लखीमपुर खीरी में एक दलित बच्ची के साथ बलात्कार करने के बाद बेरहमी से हत्या कर दी गयी। इसके दो ही दिन बाद गोरखपुर में एक लड़की के साथ बलात्कार करने और सिगरेट से दागने की घटना सामने आयी। पुलिस प्रशासन के रवैये को इसी से समझा जा सकता है कि लखीमपुर खीरी की घटना पर पुलिस ने पहले केवल हत्या का मामला दर्ज किया। इसके बाद जब मेडिकल रिपोर्ट में भी बलात्कार की बात सामने आयी तो पुलिस ने स्वीकार किया लेकिन भयानक यातना देने की बात पुलिस ने नहीं मानी। स्त्री मुक्ति लीग, दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने इन घटनाओं के खिलाफ़ इलाहाबाद, गोरखपुर, चित्रकूट आदि जगहों पर विरोध प्रदर्शन करके अपराधियों को सख़्त से सख़्त सज़ा देने की माँग की।

कानपुर राजकीय बालगृह (बालिका) में कोरोना संक्रमण और यौन उत्पीड़न के ख़िलाफ़ प्रदर्शन

उत्तर प्रदेश सरकार के शरण गृह और बालगृह लड़कियों के लिए नर्क से भी बदतर साबित हुए हैं। पिछले दिनों कानपुर के बाल संरक्षण गृह में रह रहीं 171 लड़कियों में से सात गर्भवती और 57 कोरोना संक्रमित पायी गयी हैं। अहम बात है कि इनमें से एक को छोड़कर बाक़ी की उम्र 18 साल से कम है। मामले का खुलासा हो जाने के बाद अब प्रशासन लीपापोती करने में लग गया है। प्रशासन का कहना है कि बालिका गृह में लाए जाने से पहले से ही ये किशोरियाँ गर्भवती थीं। प्रशासन ने आनन-फ़ानन बालिका गृह को सील कर दिया गया है जिससे वहाँ उपलब्ध रिकॉर्ड भी सील हो गया, जिससे मामले की समुचित जाँच भी संभव नही हो पा रही है। कानपुर के स्वरूपनगर स्थित राजकीय बालगृह (बालिका) में मैनेजमेण्ट और प्रशासन की लापरवाही की वजह से लड़कियों के कोरोना संक्रमित पाए जाने के ख़िलाफ़ स्त्री मुक्ति लीग और दिशा छात्र संगठन ने इलाहाबाद, गोरखपुर और चित्रकूट आदि शहरों में विरोध प्रदर्शन कर दोषियों को जल्द से जल्द सख़्त सज़ा देने की माँग की।

संरक्षण गृह में हुए यौन उत्पीड़न को सामान्य घटना के तौर पर नहीं देखा जा सकता है! बालिका गृह में यौन उत्पीड़न का यह कोई पहला मामला नही है इससे पहले भी मुज़फ़्फ़रपुर, देवरिया, प्रतापगढ़, पटना और देश के न जाने कितने शेल्टर होम्स में लड़कियाँ पूँजीवादी-पितृसत्ता के हवस का शिकार बन चुकी है। जो संरक्षण गृह बालिकाओं की सुरक्षा के लिए बनाये गये हैं वह लड़कियों के खिलाफ़ होने वाले अपराधों का अड्डा बन चुके हैं। सत्ता-प्रशासन और पूँजीवादी-पितृसत्ता के गठजोड़ से इन पाशविक घटनाओं के लिए ज़िम्मेदार अपराधी आसानी से बच निकलते है।

शेल्टरों में यौन शोषण की घटना ने आज पूरी व्यवस्था पर सवाल खड़ा किया है। यह घटना मानवद्रोही, सड़ाँध मारती पूँजीवादी व्यवस्था की प्रातिनिधिक घटना है। इस घटना ने राजनेताओं, प्रशासन, नौकरशाही सबको कटघरे में खड़ा कर दिया है!

अमर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद के जन्मदिवस (23 जुलाई) पर परिचर्चा का आयोजन

एचएसआरए के महान क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आज़ाद के जन्मदिवस पर हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, उत्तरखण्ड, दिल्ली आदि राज्यों में विभिन्न हिस्सों में "चन्द्रशेखर आज़ाद की क्रान्तिकारी विरासत और आज का समय" विषय पर परिचर्चा का आयोजन किया गया।

आज़ाद का जन्म एक ग़रीब परिवार में हुआ था और उन्हें प्राथमिक शिक्षा पूरी करने का मौक़ा भी नहीं मिल सका था। इसी वजह से उनके बारे में बहुतेरे लोगों के मन में यह भ्रान्ति है कि उन्हें क्रान्तिकारी आन्दोलन के सैद्धान्तिक पहलुओं की कम समझ थी या इसमें उनकी कोई भूमिका नहीं थी। उनके सांगठनिक कौशल और प्रचण्ड साहस की तो चर्चा होती है पर उनकी वैचारिक प्रखरता को भुला दिया जाता है। भगतसिंह और आज़ाद के क्रान्तिकारी साथियों के संस्मरणों से पता चलता है कि वे महज़ सेनापति ही नहीं, बल्कि एच.एस.आर.ए. के नेतृत्वकारी मण्डल के एक प्रमुख भागीदार थे। भगतसिंह, भगवतीचरण बोहरा, सुखदेव आदि अधिक बौद्धिक क्रान्तिकारियों के विचारों को वे आँख मूँदकर नहीं स्वीकारते थे बल्कि उन पर पूरी बहस करते थे। सभी दस्तावेज़ों, बयानों, पर्चों आदि पर वे चर्चा करते थे और उनकी सहमति से ही वे जारी किये जाते थे। आज़ाद एच.आर.ए. और एच.एस.आर.ए. के बीच की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी थे और काकोरी काण्ड के बाद क्रान्तिकारी संगठन के बिखरे सूत्रों को जोड़कर उसका पुनर्गठन उन्हीं के नेतृत्व में हुआ था।

आज कोरोना संकट महामारी देशभर में तेज़ी से पैर पसार रही है और इसकी चपेट में बड़ी संख्या में देश की आम मेहनतकश आबादी आ चुकी है और और यह संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। मोदी सरकार द्वारा बिना किसी तैयारी और योजना के लागू किया गया लॉकडाउन बुरी तरह से फ़ेल हो चुका है और अब पूँजीपतियों के गिरते मुनाफ़े की दर को रोकने के लिए फिर से बिना बड़े पैमाने की जाँच और किसी प्रकार की सुरक्षा के लॉकडाउन हटाकर फ़ासीवादी सरकार पूरे देश के छात्रों-कर्मचारियों-मेहनतकशों के जीवन व भविष्य को नरक में धकेल रही है। आज एक तरफ़ जब छात्र-नौजवान बेरोज़गारी के भयानक संकट के चलते निराशा-हताशा का शिकार होकर आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहे हैं, जब कर्मचारी पहले से मिलने वाली सुविधाओं (पुरानी पेंशन आदि) से हाथ धोते जा रहे हैं और जब

खेतों-कारखानों में हड्डी गलाने वाला मेहनतकश कमरतोड़ मेहनत के बाद भी नरक जैसी गन्दी झुग्गी-झोपड़ियों में जीने को मजबूर हैं। तब इस देश के सत्ताधारी देश में धर्म, मन्दिर-मस्ज़िद के नाम पर नफ़रत की आग भड़काने में जुटे हुए हैं। आज "आज़ाद" देश में बोलने तक पर पाबन्दियाँ लगायी जा रही हैं, सत्ताधारियों की जन-विरोधी नीतियों की आलोचना तक करने पर ज़ुबान पर ताला लगाया जा रहा है।

साम्राज्यवादी-पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न की बेड़ियों में जकड़ी देश की मेहनतकश जनता के दिलों तक आज़ाद के अधूरे सपनों को पहुँचाना और उनकी महान शहादत से प्रेरणा लेते हुए उन सपनों को पूरा करने का संकल्प लेना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

मोदी सरकार की ग़रीब-मज़दूर विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ देशव्यापी प्रदर्शन

मोदी सरकार की ग़रीब-मज़दूर विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ आयोजित देशव्यापी प्रदर्शन में दिशा छात्र संगठन व नौजवान भारत सभा की टीमों देश में जगह-जगह भागीदारी की व प्रदर्शन आयोजित किए। कोरोना महामारी का फ़ायदा उठाते हुए मोदी सरकार ने श्रम क़ानूनों में बदलाव से लेकर अपने राजनीतिक विरोधियों की आवाज़ों को दबाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। उत्तर प्रदेश, हरियाणा समेत कई राज्यों में तीन साल के लिए श्रम क़ानून निरस्त कर दिये गये हैं। काम के घण्टों को आठ से बढ़ाकर बारह कर दिया गया है। पूँजीपतियों को मेहनत की लूट की खुली छूट दे दी गयी है। दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा के कार्यकर्ताओं ने सभी श्रम क़ानूनों को लागू करने, कोरोना महामारी के दौरान मज़दूरों के परिवार के जीवन-यापन का ख़र्च सरकार द्वारा वहन करने, एपीएल-बीपीएल राशनकार्ड के बिना अनाज मुहैया कराने, मज़दूरी सहित अवकाश व रोज़गार की पूर्ण सुरक्षा देने, अनौपचारिक मज़दूरों जैसे ठेला चालक, रिक्शा चालक, रेहड़ी-खोमचा आदि को 15,000 रुपये प्रतिमाह नक़द गुज़ारा भत्ता देने आदि की माँग की।

पेट्रोलियम उत्पादों के बढ़ते दाम पर केन्द्र सरकार के रवैये के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन

दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा की ओर से उत्तर प्रदेश, हरियाणा और बिहार के विभिन्न ज़िलों में पेट्रोलियम उत्पादों के बढ़ते दाम पर केन्द्र सरकार के रवैये के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन किया गया। अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की क़ीमत गिर कर 2004 के स्तर तक पहुँच गयी है लेकिन पिछले 23 दिनों में 21 बार पेट्रोल डीज़ल के दाम बढ़ाये जा चुके हैं। 2014 के बाद से पेट्रोलियम पदार्थों पर ड्यूटी 12 बार बढ़ायी जा चुकी है। 'बहुत हुई महँगाई की मार' का नारा देकर सत्ता में पहुँची भाजपा के सत्तासीन होने के बाद से अब तक पेट्रोल और डीज़ल पर ड्यूटी क्रमशः 248% और 794% तक बढ़ाया गया है। पेट्रोल-डीज़ल के बढ़ते दाम की सबसे भयानक मार आम आदमी, किसानों और मज़दूरों पर पड़ रही है। एक तरफ फ़ासीवादी सरकार द्वारा बिना किसी तैयारी के किये गये लॉकडाउन की वजह से लोगों का काम-धन्धा ठप्प हो गया है, करोड़ो लोगों का रोज़गार छिन चुका है तो वहीं पेट्रोल-डीज़ल के बढ़ते दामों की वजह से मालों की ढुलाई से लेकर कृषि उत्पादन तक के दाम आसमान छूने से करोड़ों लोगों के सामने भुखमरी का संकट पैदा हो गया है।

राजनीतिक कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी के ख़िलाफ़ प्रदर्शन

नौजवान भारत सभा व दिशा छात्र संगठन के संयुक्त आह्वान पर लॉकडाउन के दौरान दिल्ली दंगे के जांच के नाम पर सीएए विरोधी राजनीतिक व सामाजिक कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी के खिलाफ़ पटना के गोसाई टोला, उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, इलाहाबाद, अम्बेडकरनगर, चित्रकूट, लखनऊ सहित देश के विभिन्न राज्यों में विरोध प्रदर्शन आयोजित किया गया। गौरतलब है कि दिल्ली दंगो के जाँच के नाम पर पुलिस लगातार ही छात्रों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और अल्पसंख्यक युवाओं को मनमाने ढंग से उनके घरों से उठाकर पूछताछ कर रही है और उन्हें गिरफ़्तार कर रही है। सरकार अपने विरोध में उठने वाली हर लोकतांत्रिक आवाज़ को कुचलने पर आमादा है। कोरोना के चलते अब सरकार को जनान्दोलन का भी भय नहीं रह गया है। फ़ासीवादी सरकार की यह मंशा है कि एनआरसी-सीएए विरोधी आन्दोलन कोरोना लॉकडाउन के बाद फिर से शुरू न हो पाये। प्रदर्शनकारियों ने माँग की कि दिल्ली दंगे के नाम पर जिन छात्रों और राजनीतिक सामाजिक कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारी हुई है उन्हें तुरन्त रिहा किया जाये और उसके असली गुनाहगार जैसे रागिनी तिवारी, कपिल मिश्रा, अनुराग ठाकुर को तुरन्त गिरफ़्तार किया जाये|

आज़ादी के 73 सालों का सफ़रनामा

नौजवान भारत सभा द्वारा महाराष्ट्र, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा आदि राज्यों मे "आज़ादी के 73 वर्ष, शहीदों का सपना और आज का भारत" विषय पर चर्चा आयोजित की गयी । चर्चा के दौरान आजादी के आन्दोलन और क्रान्तिकारियों के सपनों के भारत के बारे में विस्तार से बातचीत की गयी। भारत को 1947 में अधूरी आज़ादी मिली थी, वह महज़ सत्ता हस्तान्तरण थी जिसके बाद भूरे अंग्रेज़ हम पर शासन कर रहे हैं। आज़ादी के बाद जितनी भी पार्टियों ने देश के शासन की बागडोर सँभाली आम जनता के हित में काम करने के बजाय केवल पूँजीपतियों की चाकरी ही की। यही वजह है कि आज़ादी के 73 वर्ष बाद भी देश के किसानों, मजदूरों के जीवन में कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ है। अमीरी-ग़रीबी की खाई लगातार बढ़ती जा रही

है। भगतसिंह और बाक़ी क्रान्तिकारियों के सपने आज भी अधूरे हैं और उन्हें पूरा करने के लिए देश के नौजवानों को एक बार फिर से एकजुट होने की ज़रूरत है। भगतसिंह का सपना एक ऐसे समाज का था जिसमें एक व्यक्ति द्वारा दूसरे का शोषण नहीं किया जा सके मगर आज शोषण और लूट बदस्तूर जारी है। देश की आम आबादी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार आवास जैसे बुनियादी सुविधाओं से भी महरूम हैं, दूसरी ओर अरबपतियों की संख्या में लगातार इज़ाफ़ा हो रहा है।

मन्दिर का झुनझुना नहीं, शिक्षा-चिकित्सा-रोज़गार रोज़गार चाहिए!

कोरोना महामारी के भयंकर दौर में देश की मेहनतकश जनता परेशान है। बहुत बड़ी आबादी भूख, बेरोज़गारी और असमय मृत्यु के ख़तरे से जूझ रही है। पेट भरने की जद्दोजहद में, जब कोरोना संक्रमण की रफ़्तार हर रोज़ नये रिकॉर्ड बना रही है, मेहनतकश जनता संक्रमण के ख़तरे और मौत से जूझते हुए अमानवीय परिस्थितियों में काम कर रहे हैं। कुल संक्रमित मामलों की संख्या देश में 20 लाख से ऊपर पहुँच चुकी है। अयोध्या और आसपास के जिलों में घाघरा/सरयू नदी में आयी बाढ़ के चलते सैकड़ों गाँवों में पानी घुस चुका है। लेकिन फ़ासीवादी मोदी सरकार अपने पुराने फ़ासीवादी एजेण्डे को अंजाम देते हुए आपदा के इस दौर को इवेंट में बदलकर अयोध्या में राम मन्दिर का शिलान्यास किया। इसी के साथ ही 5 अगस्त ही वह तारीख़ है, जब फ़ासीवादी मोदी सरकार ने जम्मू-कश्मीर से अनुच्छेद 370 और धारा 35-ए ख़त्म करके उसे तीन हिस्सों में विभाजित कर दिया था। कश्मीर की जनता पर नये दमनचक्र की शुरुआत के एक साल पूरा होने पर उसी दिन राम मन्दिर के निर्माण की शुरुआत करके भाजपा और संघ परिवार एक ही तीर से कई निशाने साधने में लगे हुए हैं। इसके ख़िलाफ़ पूरे उत्तर प्रदेश में नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन की विभिन्न इकाइयों ने प्रदर्शन किया।

स्त्री उत्पीड़न और भाजपा का रामराज्य

(पेज 60 से आगे)

घटनाएँ सामने आयी। यानी हर दिन बलात्कार की 11 से 12 घटना। 'बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ' का जुमला उछालने वाली भाजपा सरकार के कार्यकाल में हर 15 मिनट में एक लड़की के साथ बलात्कार होता है। पिछले दिनों महिलाओं के साथ हुए बर्बर उत्पीड़न में अपराधी भाजपा के विधायक और मंत्री थे। इनमें से कुछ भाजपा और न्यायालय के रहमोकरम पर जेल से बाहर हैं जबकि नित्यानन्द की रिहाई के मामले में भाजपा के कार्यकर्ताओं ने फूल-माला चढ़ाकर मिठाइयाँ भी बाँटी थी।

जब-जब फ़ासीवादी और घोर प्रतिक्रियावादी ताक़तें सत्ता के गलियारों में पहुँचती हैं तो समाज में बर्बर, अमानवीय और पाशविक तत्वों को हौसला मिलता है। फासीवाद जातिवादी व सवर्णवादी मानसिकता को बढ़ावा देने का काम भी करता है तथा साथ ही वह स्त्रियों को उपभोग की वस्तु समझने वाली पितृसत्तात्मक मानसिकता को भी मज़बूती प्रदान करता है। इन फासिस्टों की नज़र में स्त्री का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है; स्त्रियों को महज़ पुत्र पैदा करने वाली मशीन बताया जाता है, जिनका कर्तव्य पुरुषों की सेवा करना है। यही "हिन्दू राष्ट्र" में उनकी जगह है! जो इसे "हिन्दुओं का राज" मानते हैं, उन्हें याद रखना चाहिए कि यह अम्बानी, अडानी, टाटा, बिड़ला और धनपशुओं का राज है, जिनकी सबसे अश्लीलता और नग्नता से नुमाइन्दगी आज मोदी सरकार कर रही है। यह पैसे की ताक़त ही वह बीमार और उन्मादी भोगवादी सोच पैदा करती है कि ये धनपशु स्त्रियों को भी भोग की वस्तु समझने लगते हैं, जिनको 'मनी पावर' और 'मसल पावर' के बूते ख़रीदा और भोगा जा सकता है। स्त्रियाँ उनके लिए जीती-जागती इंसान नहीं बल्कि महज़ माँस का एक पिण्ड रह जाती हैं, जिसे पैसे की ताक़त से मनमुआफ़िक तरीक़े से भोगा जा सकता है और फिर फेंका जा सकता है। यही सोच समाज के लम्पट वर्गों तक भी मौजूदा बाज़ारू सांस्कृतिक माध्यमों के ज़रिये पहुंचती है। नतीजतन, एक रुग्ण फासिस्ट फिरकापरस्त भीड़ पैदा होती है। और इसी में से वे तत्व पैदा होते हैं, जो ऐसी बर्बरताओं को अंजाम देते हैं, जिसके बारे में पशु भी नहीं सोच सकते हैं। यानी, जब ऐसी मानसिकता वाले सत्ता में हों तो पैसे के नशे में चूर और आपराधिक किस्म के लम्पटों का हौसला दिन दुनी रात चौगुनी गति से बढ़ जाता है। इसी का नतीजा यह है कि स्त्री विरोधी अपराध अपनी चोटी पर हैं। बाल वेश्यावृत्ति का धन्धा अरबों का है। महिलाओं के साथ होने वाली बर्बर घटनाओं, उनकी व्यक्तिगत आज़ादी को लेकर बहुत मुखर होकर सामने नहीं आता। जनमानस में स्त्रियों को लेकर पैठी दक़ियानूसी मानसिकता स्त्रियों के साथ होने वाले अपराधों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध का कमज़ोर करती है और पूँजीवादी पितृसत्ता को मज़बूत करती है।

हमारी चुप्पी स्त्री-विरोधी मानसिकता को फलने-फूलने के लिए खाद-पानी देने का काम करती है। हमें आये दिन हो रही इस बर्बरता के असल कारणों को समझते हुए अपनी मुर्दा ख़ामोशी, अपनी शिथिलता को तोड़कर अपनी आवाज़ बुलन्द करनी होगी। इसके अलावा अब और कोई रास्ता नहीं बचा है।

कहानी

सुबह का रंग भूरा

फ्रांक पावलोफ़

पेशे से मनोविज्ञानी और बाल अधिकारों के विशेषज्ञ फ्रांसीसी लेखक पावलोफ़ ने यह कहानी 1988 में फ्रांस की राजनीति में धुर दक्षिणपंथी ताक़तों के बढ़ते असर के दौर में लिखी थी।

एक सर्वसत्तावादी समाज किस तरह से सोच-विचार के तरीकों से लेकर रहन-सहन और जीवनशैलियों की स्वाभाविकता में ख़लल और आख़िरकार डकैती डालकर उन्हें गिरवी बना लेता है, यह कहानी (मूल नाम 'मातिन ब्रून') इसका दस्तावेज़ है। स्वेच्छाचारी, निरकुंश और फ़ासिस्ट चरित्र वाला राज्य किस तरह हर सोच, हर पसन्द, जीने की हर शैली को एक ही रंग में ढाल देना चाहता है, यह छोटी-सी कहानी इसे बेहद मारक ढंग से हमारे सामने रखती है। शीर्षक नाज़ी पार्टी की पोशाक 'ब्राउन शर्ट्स' की याद दिलाता है। – सम्पादक

चार्ली और मैं धूप में बैठे थे। हम दोनों में से कोई ज़्यादा बात नहीं कर रहा था। बस दिमाग़ में आ रहे ऊलजलूल ख़यालों के बारे में परस्पर बतिया रहे थे। ईमानदारी से कहूँ, तो मैं उसकी बात पर बहुत ध्यान नहीं दे रहा था। हम कॉफ़ी की चुस्कियाँ ले रहे थे और समय सुखद गति से व्यतीत हो रहा था। हम दुनिया की गतिशीलता को निहार रहे थे। वह मुझे अपने कुत्ते के बारे में कुछ बता रहा था। किसी इंजेक्शन के बारे में जो उसे कुत्ते को देना पड़ा था। लेकिन तब भी मैंने वाकई ज़्यादा गौर नहीं किया।

बेचारे जानवर की तकलीफ़ दुखद थी। हालाँकि ईमानदारी से कहें तो उसकी उम्र पन्द्रह साल थी, जो कुत्ते के लिए एक भरी-पूरी आयु है, इसलिए आप सोच सकते थे कि वह इस बात से वाकिफ़ है कि कुत्ते को किसी दिन जाना ही है।

'देखो,' चार्ली ने कहा, 'मैं उसे भूरे रंग का तो नहीं बता सकता था।'

'हाँ, ज़ाहिर है। आख़िर वह लेब्राडोर था, काला लेब्राडोर ही तो था न ? खैर छोड़ो, उसे हुआ क्या था ?'

'कुछ भी नहीं। बस यही कि वो भूरा कुत्ता नहीं था। बस इतना ही।'

'क्या ? तो उन्होंने अब कुत्तों पर भी शुरू कर दिया है।'

'हाँ।'

पिछले महीने बिल्लियों के साथ ऐसा हुआ था। मैं बिल्लियों के बारे में जानता था। मेरे पास भी एक थी। एक आवारा बिल्ली जिसे मैंने पाला था। काले और सफ़ेद रंग की एक नन्हीं सी गन्दी-सी बिल्ली। मैं उसे पसंद करता था। लेकिन मुझे उससे छुटकारा लेना पड़ा।

मेरे कहने का मतलब है कि उनके पास भी तर्क हैं। बिल्लियों की आबादी बेकाबू हो रही थी। और जैसा कि सरकारी वैज्ञानिक कह रहे थे कि मुख्य चीज़ है भूरी बिल्लियों को ही पालना। ताज़ा प्रयोगों के मुताबिक भूरे पालतू जानवर दूसरों के मुकाबले हमारी आधुनिक शहरी ज़िन्दगी के लिहाज़ से ज़्यादा अनुकूल है। वे कम गन्दगी करते हैं और खाते भी बहुत कम हैं। किसी भी हालत में, बिल्ली आख़िर बिल्ली है और भूरे रंग से इतर रंग वाली बिल्लियों से छुटकारा पाकर एक बार में ही समस्या का निदान कर लेना ही समझदारी की बात है।

सैनिक पुलिस आर्सेनिक की गोलियाँ मुफ़्त दे रही थी। आपको यह करना होता था कि उनके खाने में गोलियां मिला दो और कहानी ख़त्म। एकबारगी मेरा दिल टूट गया। लेकिन मै जल्द ही इससे उबर गया।

मुझे यह बात मान लेनी चाहिए कि इस ख़बर ने मुझे थोड़ा सा झिझोंड़ दिया था। मुझे नहीं पता था कि क्यों। शायद इसलिए कि, कुत्ते अपेक्षाकृत बड़े होते हैं। या शायद इसलिए कि, वे मनुष्य के सबसे अच्छे दोस्त होते हैं, जैसा कि कहा जाता है।

खैर, चार्ली ने इस मामले में कदम बढ़ा ही दिये थे, और ये सही भी था। आख़िरकार इन चीज़ों के बारे में ज़्यादा माथापच्ची करने से कुछ होना-हवाना नहीं था। और जहाँ तक भूरे कुत्तों की बात है कि वे औरों से बेहतर हैं, मैं समझता हूँ ये बात सही ही होगी।

हम दोनों के बीच ज़्यादा कुछ बात करने लायक नहीं बचा तो थोड़ी देर बाद हमने अपनी-अपनी राह ली। लेकिन दिमाग़ के एक कोने में मुझे लग रहा था कि कुछ अनकहा रह गया है। बाकी का दिन इसी सन्देह के साये में गुज़रा।

इस घटना को ज़्यादा दिन भी नहीं हुए थे कि चार्ली को ब्रेकिंग न्यूज़ देने की मेरी बारी आ गयी। मैंने उसे बताया कि 'डेली' अब कभी नहीं छपेगा। 'द डेली', जिसे वह कॉफ़ी पीते हुए हर सुबह पढ़ता था।

'तुम कहना क्या चाह्ते हो? क्या वे हड़ताल पर हैं? क्या वे दिवालिया हो गये हैं या कुछ और?'

'नहीं, नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इसका सम्बन्ध कुत्तों वाले मामले से है।'

'क्या भूरे वाले?'

'बिल्कुल सही। एक भी दिन ऐसा नहीं गुज़रा जब उन्होंने उस नये क़ानून के बारे में अख़बार में चर्चा न की हो। बात यहाँ तक आ पहुँची कि उन्होंने वैज्ञानिक तथ्यों पर ही सवाल उठाने शुरू कर दिए थे। मेरे कहने का मतलब ये कि पाठकों को पता ही नहीं था कि वे और क्या सोचें। उनमें से कुछ ने अपने कुत्ते छिपाने शुरू कर दिये थे।'

'लेकिन ये तो संकट को बुलावा है।'

'हां, बिल्कुल, और इसीलिए अब अख़बार पर पाबन्दी लगा दी गयी है।'

'तुम मज़ाक कर रहे हो। रेसिंग का क्या होगा?'

'हूँ, मेरे दोस्त, अब तुम्हें उस बारे में टिप्स आने वाले दिनों में 'ब्राउन न्यूज़' से लेनी शुरू करनी होगी। नहीं लोगे क्या। और कुछ भी नहीं है यहाँ। ख़ैर घुड़दौड़ का उनका सेक्शन ऊपरी तौर पर इतना बुरा भी नहीं है।'

'दूसरे बहुत आगे निकल गये हैं। लेकिन आख़िरकार तुम्हें किसी तरह का अख़बार तो मिल ही रहा है। यानी क्या चल रहा है ये जानने का तुम्हारे पास कोई ज़रिया तो रहेगा ही। क्यों?'

मैं चला था कि चार्ली के साथ इत्मीनान से कॉफ़ी पिऊँगा, और यहां मैं 'ब्राउन न्यूज़' का एक पाठक बनने की चर्चा में ही उलझा हुआ था। कैफ़े में मेरे पास बैठे और लोग अपने में व्यस्त थे जैसे कि कुछ हुआ ही नहीं हो। मैं जाहिरा तौर पर ख़ामख़्वाह हलक़ान हुए जा रहा था।

उसके बाद बारी थी लाइब्रेरी की किताबों की। इस बारे में कुछ ऐसा था जो सही नहीं था। 'द डेली' सरीखे संगठनों से जुड़े प्रकाशन संस्थानों को अदालत में घसीटा गया था और उनकी किताबें, पुस्तकालयों और किताबों की दुकानों से हटा ली गयी थीं। लेकिन फिर दोबारा उनकी प्रकाशित हर चीज़ में कुत्ता या बिल्ली शब्दों का उल्लेख होता महसूस होता था। हमेशा 'भूरे' शब्द के साथ न भी हो, तब भी। तो उनकी मंशा ज़ाहिर थी।

'ये तो बिल्कुल बेवकूफ़ी की बात है,' चार्ली ने कहा। 'क़ानून, क़ानून है। उसके साथ चूहे-बिल्ली का खेल करने का कोई मतलब नहीं।'

'भूरा,' उसने जोड़ा, अपने आसपास देखते हुए कि कहीं कोई हमारी बातचीत सुन तो नहीं रहा है था। 'भूरा चूहा।'

सुरक्षा के लिहाज़ से हमने वाक्याशों, या दूसरे खास शब्दों के पीछे 'भूरा' जोड़ना शुरू कर दिया था। हम ब्राउन पेस्ट्री के बारे में दरयाफ़्त करते, शुरू में ये थोड़ा अटपटा लगा लेकिन स्लैंग तो यूं भी हमेशा बदलता रहा है, इसलिए हमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता था कि हम अपनी बात के आख़िर में 'भूरा' जोड़े या कहें, भाड़ में जाओ। जो कि हम आमतौर पर कहते ही थे। कम से कम इस तरह हमने कोई मुसीबत मोल नहीं ली थी, और यही तरीक़ा हमें अच्छा लगता था।

यहाँ तक कि हमें घोड़ों पर भी जीत नसीब हुई। मेरा मतलब, ये कोई जैकपॉट या और कुछ नहीं था। लेकिन ये थी तो जीत ही। हमारी पहली भूरी विजय। और इस तरह बाक़ी हर चीज़ ठीक लगने लगी।

चार्ली के साथ बिताया एक दिन मैं हमेशा याद रखूँगा। मैंने उसे कप का फ़ाइनल देखने के लिए अपने घर बुलाया था। और

जैसे ही एक दूसरे से मिले, हम हँस पड़े। उसने नया कुत्ता लिया था। वह एक विशाल भारी जानवर था। पूँछ की नोक से लेकर थूथन तक भूरा का भूरा। उसकी आँखें भी भूरी थीं।

'है न ग़ज़ब का, ये मेरे पुराने कुत्ते से ज़्यादा दोस्ती वाला है। ज़्यादा स्वामिभक्त भी। मैं भी उस काले लेब्राडोर के बारे में क्या बातें लेकर बैठ गया था।'

जैसे ही उसने यह कहा, उसके नये कुत्ते ने सोफे के नीचे छलाँग मारी और भौंकना शुरू कर दिया। और हर भूँक में मानो वह कहता था, 'मैं भूरा हूँ! मैं भूरा हूँ! और कोई मुझे नहीं बताता कि मुझे क्या करना है!'

हमने उसे हैरत से देखा।

'तुम भी?' चार्ली ने कहा।

'मैं डर गया हूँ।'

आप देखिए, उसी वक़्त मेरी नई बिल्ली कमरे में कूदी और आलमारी के ऊपर छिपने के लिए पर्दे पर जा चढ़ी। भूरे फर वाली बिल्ली। और वे भूरी आँखें जो लगता था, आप जहाँ-जहाँ जाते हैं, वे आपका पीछा करती रहती हैं। और इसलिए हम दोनों हँस पड़े थे। संयोग के भी क्या कहने!

'मैं भी बिल्ली वाला आदमी हूँ वैसे। देखो कितनी प्यारी है, है न?'

'सुन्दर,' उसने अपना सिर हिलाते हुए कहा।

फिर हम टीवी की ओर मुख़ातिब हुए। हमारे दोनों भूरे जानवर अपनी आँखों के कोनों से एक दूसरे को होशियारी से घूर रहे थे।

मैं आपको नहीं बता सकता कि इतना सब होने के बाद आख़िर उस दिन फ़ाइनल किसने जीता। मैं उस दिन को वास्तविक हँसी के दिन की तरह याद रखता हूँ। हमने वाकई महसूस किया कि शहर भर में जो बदलाव किये जा रहे थे उनके बारे में आख़िरकार चिन्तित होने की कोई वज़ह नहीं थी। मतलब, आप वही करते थे जो आपसे अपेक्षित था। और आप सुरक्षित थे। शायद नये निर्देशों ने हरेक की ज़िन्दगी आसान बना दी थी।

ज़ाहिर है, मैंने उस छोटे बच्चे को भी अपने ख़्यालों में जगह दी थी जो उस दिन सुबह मुझे दिखा था। वह् सड़क के दूसरे किनारे पर घुटनों के बल बैठा रो रहा था। उसके सामने ज़मीन पर एक नन्हा-सा सफ़ेद कुत्ता मरा पड़ा था। मैं जानता था कि वह जल्द ही इस हादसे से उबर जायेगा। आख़िरकार ऐसा नहीं था कि कुत्तों की मनाही कर दी गयी थी। उसे करना यह था कि भूरा कुत्ता लाना चाहिए था। आपको ठीक वैसा ही गोद में खिलाया जाने वाला पूडल मिल सकता था, जो वहाँ उस बच्चे के पास था। तब वह भी हमारी तरह होता। ये जानकर अच्छा लगता है कि आप क़ानून का सही पालन करते हैं।

और फिर कल, ठीक ऐसे वक़्त जब मुझे लगता था कि सब कुछ सही है, मैं बाल-बाल बचा वरना सेना पुलिस ने मुझे घेर लिया होता। भूरी पोशाक़ वाले लोग। वे कभी भी आपको यूँ ही नहीं जाने देते। ख़ुशकिस्मती से उन्होंने मुझे नहीं पहचाना क्योंकि वे इलाके में नये थे और हर किसी को अभी नहीं जानते थे। मैं चार्ली के घर जा रहा था। इतवार का दिन था, और मैं उसके घर ताश खेलने जा रहा था। मैं अपने साथ बीयर की कुछ बोतलें भी ले जा रहा था। आपको ताश के मज़ेदार खेल तो जब-तब खेलते ही रहने होंगे। मेज़ पर ताल बजाते हुए और कुछ चना-चबैना करते हुए दो-एक घण्टे बिताने की ही बात थी।

जैसे ही मैं सीढ़ियों पर चढ़ा, मुझे अपनी ज़िन्दगी का पहला धक्का लगा। उसके घर का दरवाज़ा खुला पड़ा था और सैनिक पुलिस के दो अफ़सर दरवाज़े के सामने खड़े थे। वे लोगों से चलते रहने को कह रहे थे। मैंने ऐसे ज़ाहिर किया जैसे कि मैं ऊपर की मंज़िल के किसी फ़्लैट में जा रहा हूँ और सीढ़ियों पर चढ़ गया। ऊपर से मैं लिफ़्ट के ज़रिए नीचे उतर आया। बाहर सड़क पर फुसफुसाहटें शुरू हो चुकी थीं।

'लेकिन उसके पास तो भूरा कुत्ता है। हम सबने देखा है।'

'ठीक है, हाँ, लेकिन वे कह रहे हैं कि पहले तो उसके पास काला था।'

'पहले?'

'हाँ, पहले। आपके पास पहले से ही कोई भूरा कुत्ता न होना भी एक जुर्म है। और इस बात की जानकारी मिलना मुश्किल नहीं है। वे कुछ नहीं करेंगे सिर्फ़ पड़ोसियों से पूछ लेंगे, बस।'

मैं फ़ौरन चला आया। मेरी गर्दन के पीछे पसीने की ठण्डी धार रेंगती हुई चली गयी।

अगर पहले आपके पास किसी और रंग का जानवर होना अपराध है तो सैनिक पुलिस किसी भी वक़्त मेरे भी पीछे लग जायेगी। मेरे ब्लॉक में सब जानते थे कि पहले मेरे पास एक काली-सफ़ेद बिल्ली थी। पहले! मैंने इस बारे में तो कभी सोचा ही नहीं था।

आज सुबह, ब्राउन रेडियो ने समाचार की पुष्टि कर दी। गिरफ़्तार किये पाँच सौ लोगों में चार्ली भी था। अधिकारियों का कहना था कि भले ही उन लोगों ने हाल में भूरा जानवर ख़रीद लिया हो लेकिन इसका ये अर्थ नहीं था कि उन्होंने वास्तव में अपने सोचने का तरीका भी बदल लिया हो।

'किसी पुराने समय में ऐसे कुत्ते या बिल्ली का स्वामी होना जो क़ानून के मुताबिक नहीं है, एक अपराध है,' उदघोषक ने ऐलान किया। फिर उसने जोड़ा, 'ये राज्य के विरुद्ध अपराध है।'

उसके बाद जो हुआ वह और भी बुरा था। अगर आपने ख़ुद कभी कुत्ते या बिल्ली ना रखे हों लेकिन अगर आपके परिवार में किसी ने, आपके पिता या भाई या रिश्तेदार ने, अपनी ज़िन्दगी में कभी भी ऐसे कुत्ते-बिल्ली पाले हों जो भूरे न रहे हों, तो ऐसी स्थितियों में भी आप दोषी हैं। आप हर हाल में दोषी हैं।

मुझे नहीं मालूम कि उन्होंने चार्ली के साथ क्या किया।

ये पूरा मामला हाथ से निकल रहा था। दुनिया बौरा गयी थी और मैं अब तक सोच रहा था कि मैं अपनी नयी भूरी बिल्ली के साथ सुरक्षित हूँ।

कविता

गाइड उवाच

विनोद पदरज

विनोद पदरज हमारे समय के एक विशिष्ट और विलक्षण कवि हैं, हालाँकि वह चर्चा में कुछ कम ही रहते हैं। मितकथन और अपनी विशिष्ट मर्मभेदी कहन-शैली में वह गहन और सान्द्र प्रभाव वाली कविताएँ लिखते हैं। उनके संकलन 'अगन जल' में संकलित यह कविता ऐसा लगता है जैसे एकदम आज के हालात पर लिखी गयी है। एक ऐसी कविता है, जिसे आप कभी भुला नहीं सकेंगे।

देवियो और सज्जनो
अब हम जहाँ जा रहे हैं
वह हमारे समय का अभूतपूर्व मन्दिर है

देखिए उधर , वहाँ दाईं ओर
उसका रक्ताभ शिखर दमक रहा है
आपसे अनुरोध है
कि अपनी अपनी नाक पर रूमाल रख लें
ज्यों ज्यों हम इसके नज़दीक जायेंगे
सड़ाँध उठेगी, चिरायन्ध
और आपको
चीखें, कराहें और आर्त्तनाद सुनाई देगा
इसके प्रस्तरों से भल भल बहता ख़ून भी
दिख सकता है
बशर्ते आपकी आत्मा
पारदर्शी हो

महाशयो
यही एक मात्र ऐसा मन्दिर है
जहाँ आकर आपको
शान्ति की नहीं
संहार की अनुभूति होगी

क्षत-विक्षत शव
भंग अंग-प्रत्यंग
मांस के लोथ
अन्तहीन विलाप
और शोक और शोक और शोक
और हार और हार और हार
और शर्म और शर्म और शर्म

सबसे महती बात है
इसमें ईश्वर नहीं रहता
बस रात गये
कुछ भले से दिखने वाले लोग
ठहाके लगाते दिखाई देते हैं
जिनके पाँव उल्टे हैं

ज़ाहिर है, अगर वे पहले पाले गये जानवर के रंग को आधार बनायें तो जिसे चाहें उसे गिरफ़्तार कर सकते हैं।

मैं उस रात पलक तक नहीं झपका सका। मुझे शुरू से ही 'ब्राउन्स' पर सन्देह होना चाहिए था। जानवरों के बारे में उनका पहला क़ानून। मुझे उस समय कुछ कहना चाहिए था। आख़िरकार, वह मेरी बिल्ली थी, और कुत्ता चार्ली का था। हमें सिर्फ़ ये कहना चाहिए था: नहीं। उनके सामने खड़ा हो जाना चाहिए था। लेकिन हम क्या कर सकते थे? मतलब सब कुछ इतनी तेज़ी से हुआ। और फिर कामकाज भी था और दुनिया भर की दूसरी चिन्ताएँ। और यूँ भी हम कोई अकेले तो थे नहीं। हर किसी ने ऐसा किया था। अपने सिर झुकाए रखे। हम महज़ थोड़ी-सी शान्ति और तसल्ली चाहते थे।

कोई दरवाज़ा खटखटा रहा है। ये तो सुबह का वक़्त है। बहुत सुबह। इस समय तो कोई राउण्ड पर नहीं आता। अभी तो उजाला भी नहीं फूटा है। अभी तो सुबह का रंग भूरा है।

ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा पीटना बन्द करो। मैं आ रहा हूँ...

अनुवाद : शिवप्रसाद जोशी
'समयान्तर' से साभार

राहुल फ़ाउण्डेशन की तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें

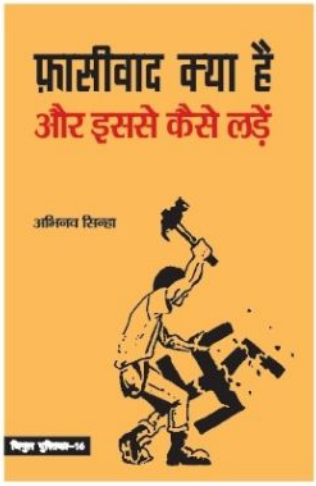

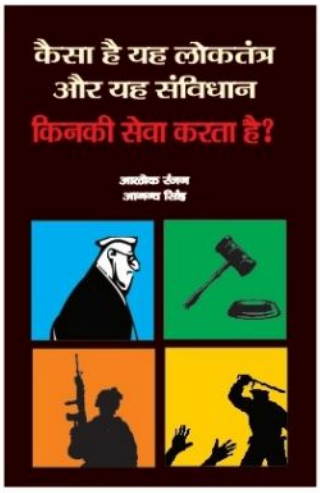

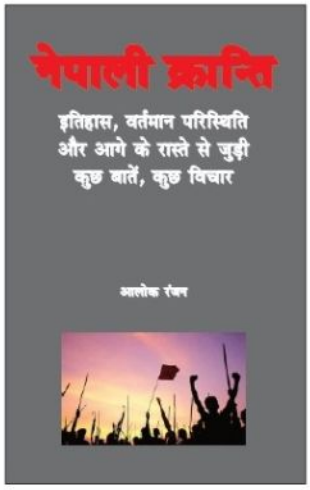

प्रस्तुत पुस्तक फ़ासीवाद के उभार के इतिहास और उसके सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फ़ासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यहाँ फ़ासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।
पृष्ठ : 240, मूल्य : 120 रुपये

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति-सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।
पृष्ठ : 200, मूल्य : 150 रुपये

भारत और नेपाल में जारी वर्ग-संघर्ष एक दूसरे को गहराई से प्रभावित करते हैं, इसलिए नेपाली क्रान्ति के सफ़रनामे से गहराई से परिचित होना भारत के जागरूक मुक्तिकामी जनों के लिए ज़रूरी है। यह पुस्तक नेपाल के कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का विस्तृत परिचय देने के साथ ही वहाँ आन्दोलन की गम्भीर वैचारिक समस्याओं और भटकावों पर चर्चा करती है, तथा नेपाल में क्रान्ति के रास्ते के प्रश्न पर संसदीय मार्ग बनाम क्रान्तिकारी मार्ग की विचारधारात्मक बहस से परिचित कराती है।
पृष्ठ : 160, मूल्य : 55 रुपये
अनुपूरक: 16 पृष्ठ, 8 रुपये

पुस्तकें मँगाने और सम्पूर्ण पुस्तक सूची देखने के लिए हमारे मुख्य वितरक से सम्पर्क करें :

जनचेतना

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : janchetna.books@gmail.com वेबसाइट : www.janchetnabooks.org

Muktikami Chhatron-Yuvaon ka Aahwan • July-October 2020 • RNI NO- DELHIN/2008/26966

ख़त्म करो पूँजी का राज!
लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!!

हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से ख़ारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से ख़ारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताक़त उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है– 'सारी सत्ता मेहनतकश को!'

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारखानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,
स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन

द्वारा चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 011-64623928
ईमेल : disha.du@gmail.com